रजि० पंजीकरण सं० : एल-1277

ओ३म्

गुरुकुल-पत्रिका

मई-जुलाई 2004

सम्पादक

डॉ. महावीर

प्रोफेसर, संस्कृत विभाग

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार-२४९४०४

सम्पादक-मण्डल

मूल्य	१०० रुपये वार्षिक
विक्रमी सम्वत्	२०६१

मुद्रक : किरण ऑफसैट प्रिंटिंग प्रेस, कनखल, हरिद्वार। फोन : 01334-245975

विषयानुक्रमणिका

वेदमञ्जरी
परिचिनुहि के आर्याः के च दस्यवः

विजानीह्यार्यान् ये च दस्यवो बर्हिष्मते रन्धया शासदव्रतान्।
शाकी भव यजमानस्य चोदिता विश्वेत् ता ते सधमादेषु चाकन।।

ऋग् 1.51.8

ऋषिः सव्यः आङ्गिरसः। **देवता** इन्द्रः। **छन्दः** जगती।

हे इन्द्र राजन्! (**आर्यान्**) श्रेष्ठान् (**ये च दस्यवः**) ये च दुर्जनाः सन्ति तान् (**विजानीहि**) विश्लेषणपूर्वकं परिचिनुहि। (**शासत्**) शासनं कुर्वन् त्वम् (**बर्हिष्मते**) राष्ट्रसेवारूपस्य यज्ञस्य अनुष्ठात्रे (**अव्रतान्**) व्रतहीनान् (**रन्धय**) दण्डय। (**शाकी**) शक्तिशली त्वम् (**यजमानस्य**) यज्ञसम्पादकस्य (**चोदिता**) प्रेरकः (**भव**) एधि। (**ते**) तव (**ता**) तानि (**विश्वा इत्**) विश्वान्येव कर्माणि (**सधमादेषु**) सह माद्यन्ति हृष्यन्ति जना यत्र तेषु उत्सवेषु (**चाकन**) कामये।

हे इन्द्र! अयि राजन्! यदि त्वं स्वकीयसाम्राज्यस्य सफलोऽधिनायको भवितुमिच्छसि, तर्हि सर्वतः पूर्वं त्वया आर्येषु दस्युषु च विवेकः करणीयः। दस्यवोऽपि प्रायेण छलप्रपञ्चतस्तादृशं रूपं धारयन्ति येन ते परिचेतुं न शक्यन्ते। बाह्यं वेषभूषादिकम् आचारव्यवहारादिकं च आर्यत्वस्य दस्युत्वस्य च परिचायकानि न सन्ति। त्वया प्रतिजनम् तदीयहृदयेषु तदीयप्रच्छन्नकार्येषु च दृष्टिनिक्षेपः करणीयः। आर्यस्य हृदयं सरलं भवति, तस्य वाचि कर्मणि च, अन्तर्बहिश्च कोऽपि भेदो न जायते, किञ्चासौ सेवाव्रती भवति। तद्विपरीतं दस्युः कपटहृदयः, अन्तर्बहिश्च भिन्नः, सेवाव्रतहीनश्च दृश्यते। राष्ट्रे त्वम् आर्यान् दस्यूंश्च विविच्य व्रतहीनान् दण्डय, येन राष्ट्र-सेवारूपस्य यज्ञस्य अनुष्ठातारः आर्यजनास्तव राज्ये बहुलाः परिपुष्टाश्च सन्तु।

हे राष्ट्रनायक! त्वं शक्तो भव, स्वकीयां सैन्यशक्तिं, प्रभावशक्तिं, राज्यकोषशक्तिं च सुदृढाँ कुरु, येन त्वं राज्यान्तर्गतान् बाह्यांश्च शत्रून् मर्दयितुं शक्नुयाः। तव राज्ये ये यज्ञशीला जनाः सन्ति, तेषां त्वं प्रेरणाप्रदायकः उत्साहवर्धकश्च भव। अन्यथा यदि त्वं सेवाव्रतिनो राष्ट्रभक्तान् धर्मपरायणान् सन्मार्गगामिनः सदाचारिणो दूरदर्शिनो विवेकिनो राष्ट्रोत्थाने सहायकान् उपेक्षसे, तर्हि दुष्टप्रवत्तिमन्तो जनाः शिर उत्थापयन्ति, येन तव राज्यं विशृङ्खलितं भवति। अतः सावधानो भूत्वा त्वं कर्तव्यं पालय, अकर्तव्यं च परित्यज। तदा त्वदीयं राज्यं चिरविजयि चिरस्थायि च भूत्वा चिरप्रशंसितं संपत्स्यते। तदा वयं प्रजाजना उत्सवं रचयिष्यामः, संगोष्ठीनाम् आयोजनं विधास्यामः, तत्र च तव स्वागतगीतानि गास्यामः, तवाभिनन्दनं करिष्यामः, तव गौरवगानं कीर्तयिष्यामः।

हे आत्मन्! त्वमपि इन्द्रोऽसि, त्वं शरीरराष्ट्रस्य राजा वर्तसे। तवाभयन्तरमपि आर्यविचारा दस्युविचाराश्च उद्भवन्ति, तेषु त्वं विवेकं कुरु। दस्युविचारेषु वज्रं पातय आर्यविचारांश्च समुन्नय। तव यशोगानं भविष्यति।

आचार्य रामनाथ वेदालङ्कारः

सम्पादकीय

काल-चक्र सतत् गतिशील रहता है। वह घूमता रहता है कभी रुकता नहीं, कहीं थमता नहीं, गंगा की जलधारा बहती रहती है, वायु कभी रुकने का नाम नहीं लेता। मानव जाति का उत्थान पतन, अमावस्या की तमिस्रा और शरद् पूर्णिमा की ज्योत्स्ना, बसन्त का मृदु हास और शिशिर का पतझड़, हंसता, खेलता, बचपन और चिन्ता जराक्रान्त वृद्धत्व, ये सब कालचक्र की गतिशीलता के परिणाम है। कल तक जो राजसिंहासन पर विराजमान था; आज चौराहे पर अकेला खड़ा है। कल तक जो सामान्य भीड़ का हिस्सा था वह राजमहल का सुख भोग रहा है। परिवर्तन प्रकृति का सहज नियम है। हम अपनी आंखों से प्रतिदिन परिवर्तन को देखते है किन्तु उस पर विश्वास नहीं करते, उससे जीवन का कोई सन्देश प्राप्त नहीं कर पाते। जो इस सार्वभौम सत्य को समझकर हृदय से स्वीकार कर लेते हैं वे मानव, महामानव और विश्ववन्द्य बन जाते हैं। इतिहास के पृष्ठों पर उनका नाम स्वर्णाक्षरों में अंकित हो जाता है, वे राष्ट्र के प्रकाश स्तम्भ बनकर सर्वत्र प्रकाश फैलाते है। अपने चरित्र, ज्ञान और सुकर्मो की सुरभि से भूमण्डल को सुरभित कर देते है। वे मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम, योगेश्वर श्रीकृष्ण, भगवान् बुद्ध, भगवान् महावीर, जगद्गुरु शंकराचार्य, महर्षि दयानन्द सरस्वती, क्रान्तिवीर भगतसिंह, अमर हुतात्मा स्वामी श्रद्धानन्द बन कर जन-जन को कल्याण मार्ग का पथिक बनने का अमृतोपदेश प्रदान करते है। जो समय का महत्त्व नहीं समझते, खाओ, पीओ और मोज करो Eat, drink and be marry को ही सर्वोच्च जीवन दर्शन मानकर तदनुसार जीवन जीते हैं, वे मानो चन्दन के समान महकते हुए मानव जीवनोद्यान को जलाकर कोयला बना रहे हैं।

विविध विद्याओं की प्राप्ति, साहित्य, संगीत और कलाओं का अभ्यास, धार्मिक पुस्तकों का स्वाध्याय, आचार्यो के मधुरोपदेश, यज्ञ, योगादि क्रियायें ये सब हमें एक अच्छा मानव बनने की प्रेरणा देते हैं। काम, क्रोध आदि शत्रुओं को पराजित कर और ईर्ष्या, राग, द्वेष आदि से रहित शान्त और शुद्ध मन को परसेवा, परोपकार अथवा आनन्द स्वरूप परमपिता परमात्मा में लगाना और परमानन्द की प्राप्ति यही मानव जीवन का चरमोद्देश्य है। गुरुकुलीय शिक्षा मानव को इस लक्ष्य की ओर बढ़ने के लिए प्रेरित करती है। गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय की स्थापना अमरहुतात्मा स्वामी श्रद्धानन्द ने आज से 102 वर्ष पूर्व गंगा के पावन तटपर इसी लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए की थी। आज वह गुरुकुल रूपी वृक्ष, वटवृक्ष का रुप धारण कर चुका है। प्राचीन और अर्वाचीन विषयों की उच्च शिक्षा प्रदान कर संपूर्ण मानव के निर्माण में इस पवित्र शिक्षा संस्थान के

उपाध्यायगण संलग्न है। कुलाधिपति माननीय श्री सुदर्शन जी शर्मा, कुलपति प्रो० स्वतन्त्र कुमार जी के सुयोग मार्ग दर्शन में तथा उपकुलपति प्रो० वेदप्रकाश जी शास्त्री के ब्रह्मत्व में सारस्वत-अनुष्ठान निरन्तर चल रहा है। सत्यं वद धर्मं चर, मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्य देवो भव, राष्ट्र देवो भव' का शाश्वत् अमृत सन्देश गुरुकुल के कण-कण में व्याप्त है। गुरुकुल कांगड़ी वि०वि० में प्रवेश प्राप्त करने वाले प्रत्येक सौभाग्यशाली छात्र से यह अपेक्षा की जाती है कि वह इस सन्देश को सुनने का प्रयत्न करे और उसे अपने जीवन का अविभाज्य अंग बना लें।

गुरुकुल पत्रिका परिवार की ओर से मैं नव छात्रों का हार्दिक स्वागत और अभिनन्दन करते हुए उनके अन्दर छिपी हुई प्रतिभा के जागरण की प्रभु से प्रार्थना करता हूँ। गुरुकुल पत्रिका अपने शैशव काल से वेद, दर्शन, साहित्यादि में निहित ज्ञानालोक से सम्पूर्ण वातावरण को आलोकित करने का प्रयत्न करती चली आ रही है।

आज इस अंक को अपने प्रबुद्ध पाठकों के करकमलों में अर्पित करते हुए सरस्वती-पुत्रों का आह्वान करता हूँ कि वे अपनी मौलिक रचनाएं गुरुकुल पत्रिका में प्रकाशनार्थ भेजें ताकि इस पत्रिका के माध्यम से उनकी सुवास दिशाओं में व्याप्त हो जाये।

सामवेद के निज मन्त्रों से
प्रकीर्ण देवता मन्त्र सप्तकम्

सामवेद के निज मन्त्रों से पृथक् पृथक् देवता वाले सात मन्त्र

1. प्राण–साधना द्वारा वीर्यरक्षा और परमेश्वर का ध्यान करने से–

शरीर दीप्त, मन शान्त और आत्मा तृप्त होते हैं–

कुष्ठः को वामश्विना तपानो देवा मर्त्यः।
घ्नता वामश्नया क्षपमाणोऽशुनेत्थमु आद्वन्यथा ।। साम पू0 305

ऋषिः– पौर आत्रेयः देवता–अश्विनौ। छन्दः–बृहती।

प्रश्न– कुष्ठः कः अश्विनौ वां तपानः? हे प्राणापानो! पृथिवीवासी कौन मनुष्य आप दोनों को प्रदीप्त करके ऐश्वर्य प्राप्त करता है?

उत्तर – (कः) सच्चे सुख की कामना करने वाला कोई विरला ही, ऐसा करता है।

कः– कमिति सुखनाम, नि. 3–6 तत् कामयते इति कः।

शब्दार्थ – हे (अश्विनौ देवौ) दिव्य प्राण और अपान! (यथा) जैसे (कुष्ठः आद्वन् मर्त्यः) पृथ्वीवासी, अमाभोजी साान्नय मनुष्य (घ्नता– अश्नया) प्राण हरने वाली भूख से (तपानः) संतप्त हुवा हुवा (अंशुना) भोजन के स्वल्प अंश से भी राहत (शांति) अनुभव करता है, (इत्थं उ) ऐसे ही (तपानः) मन और बुद्धि के संतापों से संतप्त हुवा प्राणसाधक (क्षपमाणः) चक्रों में प्राण का संयम करता हुवा (वाम्घ्नता अंशुना) शरीर के रोगों, मन की विकलता और बुद्धि की कुण्ठता को नष्ट करने वाले, आप द्वारा रक्षित सोम के अंश और उसकी दीप्ति से संतोष और तृप्ति अनुभव करता है।

अर्थपोषण–

तपानः– तप संतापे। घ्नता–हन् हिंसायाम् प्राण हरने वाली– नष्ट करने वाली अश्नया–अश्नम्–भोजनम्, अश्ना भूख–अश भोजने। आद्वन्– अन्नभोजी, अद् भक्षणे। अंशुना–अंशुः–सोम (वीर्य), किरण, चमक, अंश। क्षपमाणः– क्षप संयमे।

2. दानी मुझे पाते हैं, और भोगियों को मैं खा जाता हूँ –

अहमस्मि प्रथमजा ऋतस्य पूर्वं देवेभ्यो अमृतस्य नाम।
यो मा ददाति स इदेवमावद्, अहमन्नमन्नमदन्तमद्मि।। साम पू0 594

ऋषिः– आत्मा। देवता–अन्नम् (आत्मा)। छन्दः–त्रिष्टुप्।

शब्दार्थ– (अहम्) मैं परमात्मा (ऋतस्य प्रथमजाः अस्मि) सत्यज्ञान और अटल नियमों का सर्वप्रथम



कुलपति प्रो स्वतन्त्र कुमार को कर्नल का रैक प्रदान करते हुए ग्रुप कमाण्डर एस०के० आहूजा, जिलाधिकारी हरिद्वार आर०के० सुधाशु, कमान अधिकारी ले० कर्नल नाचप्पा



भारत सरकार द्वारा कर्नल रैक की मानद उपाधि का प्रमाण पत्र कुलपति कर्नल स्वतन्त्र कुमार को देते हुए ग्रुप कमाण्डर एस०के० आहूजा साथ मे खडे है कमान अधिकारी ले० कर्नल नाचप्पा

उत्पत्तिकर्ता हूँ। (देवेभ्य: पूर्वम्) सूर्य, चन्द्र, भू:, अग्नि, वायु, आकाश आदि दिव्य पदार्थों से पूर्व विद्यमान था, या हूँ 'हिरण्यगर्भ: समवर्तताग्रे'। (अमृतस्य नाम) जीवन, जीवट और मोक्ष का तुम्हारी ओर झुकाने वाला प्रदाता हूँ। (य: मा ददाति) जो साधक मेरे प्रति आत्मार्पण करता है, अथवा मेरे निमित्त जरूरत मन्दों की आवश्यकताओं को पूरा करता है (स इत् एव मा अवत्) वही मुझे प्राप्त करता है, और रोग, शोक, पाप से सुरक्षित हो जाता है। (अहम् अन्नम्) मैं ऐसे साधक का आध्यात्मिक अन्न बन जाता हूँ इसके विपरीत (अन्नं अदन्तं अद्मि) प्राकृतिक भोगों को स्वाद पूर्वक खाने वाले को खा जाता हूँ अर्थात् उन भोगी पुरुषों को भोगों के फलस्वरूप रुलाते हुए नष्ट कर देता हूँ।

सर्वानुक्रमणीकार ने इस मन्त्र का देवता अन्न दिया है, किन्तु मुझे इस मन्त्र का देवता आत्मा अधिक समीचीन लगता है। या अन्न का अर्थ अत्ता समझना चाहिये।

3. रात्रि विश्राम देकर सारे जगत् का कल्याण करती है –

आ प्रागाद् भद्रा यवतिरह्न: केतून्त्समीर्त्सति।
अभूद् भद्रा निवेशनी विश्वस्य जगतो रात्री।। साम पू0 608

ऋषि: – वामदेव: देवता – रात्रि: । छन्द: – अनुष्टुप।

शब्दार्थ – (भद्रा) कल्याण करने वाली (युवति:) दु:खों और कष्टों को भुलाकर, सबको समान रूप से विश्राम प्रदायिनी (रात्री) सुख प्रदात्री रात्री (प्रागात्) आ गई है। यह (अह्न:केतून्) दिन में अनुभव होने वाले शारीरिक कष्टप्रद किरणों (अनुभूतियों) को तथा मानसिक विकलताओं को और धनी, निर्धन; राजा रंक, स्वामी सेवक आदि भेदभावों को (समीर्त्सति) समेट देती है, दिन में अनुभव होने वाले कष्ट और जंजाल दाखिल दफ्तर हो जाते हैं। इस प्रकार यह (विश्वस्य जगत:) संपूर्ण जंगम जगत् की (निवेशनी) विश्रामदायिनी और (भद्रा) कल्याणकारिणी (अभूत) हो गई है। (अह्न: केतून्) का अर्थ – अहंकार के कारण उत्पन्न भेदभाव के विचारों को – किया है हरिशरण सि0अन्ने। अहन्=अ + हन् जिसे नष्ट या समाप्त करना अत्यन्त कठिन है=अहंकार।

4. देवों की कृपा से जिस सभा में बोलूं, यशस्वी बनूं –

यशो मा द्यावापृथिवी यशो मेन्द्रबृहस्पती।
यशो भगस्य विन्दतु यशो मा प्रति मुच्यताम्।
यशस्वी – अस्या: संसदोऽहं प्रवदिता स्याम्।। साम पू0 611

ऋषि: – वामदेव:। देवता – लिंगोक्ता:। छन्द: – महोपङ्क्ति:।

शब्दार्थ – (द्यावापृथिवी) द्युलोक और पृथिवीलोक या माता और पिता या सभा और समिति, या मस्तिष्क और शरीर, (मा यश:) मुझे यश प्राप्त कराएं। (इन्द्रबृहस्पती) विद्युत् और वायु, या क्षत्रिय और ब्राह्मण, (मा यश:) मुझे यश प्राप्त कराएं। (भगस्य यश: मा विन्दतु) ऐश्वर्य, वीर्य, कीर्ति, श्री ज्ञान और

वैराग्य से प्राप्त होने वाला यश मुझे प्राप्त हो। (यशो मा प्रतिमुच्यताम्) मुझे कोई यश छोड़कर न जावे, सब प्रकार के यश मुझसे बंधे रहे। (अस्याः संसदः अहम्) मैं जिस संसद या सभा में जाऊँ (प्रवदिता स्याम्) वहाँ प्रकृष्ट वक्ता समझा जाऊँ। सभा में सम्मिलित होने वाले वक्ताओं को, मन ही मन यह मन्त्र जपते रहना चाहिये। इस से आत्म विश्वास उत्पन्न होता है, और सफलता मिलती है।

5. मुझे हिरण्य, गौ, सत्य और ज्ञान के सदृश तेज और आकर्षण प्राप्त हो -

यद्वर्चो हिरण्यस्य यद्वा वर्चो गवामुत।
सत्यस्य ब्रह्मणो वर्चस्तेन मा सं सृजामसि।। साम पू0 624

ऋषिः - वामदेवः । देवता - आत्मन आशीः। छन्दः अनुष्टुप्।

शब्दार्थ - सुवर्ण, गाय, सत्य और ज्ञान में जो तेज और आकर्षण है, उससे मुझे संयुक्त कीजिये।

(हिरण्यस्य) वीर्य शक्ति का (गवाम्) इन्द्रियों का (सत्य) सत्य-कथन और आचार का तथा (ब्रह्मणः) ज्ञान और परमात्म विश्वास का जो (वर्चः) सामर्थ्य है, (तेन) उससे (मा संसृजामसि) मुझे संयुक्त कीजिये; हम भी (मा) अपने को (संसृजामसि) उससे संयुक्त होने का प्रयत्न करते हैं।

6. प्रत्येक परिस्थिति रमणयोग्य है, उससे लाभ उठाओ, उसे कोसो नहीं-

वसन्त इन्नु रन्त्यो ग्रीष्म इन्नु रन्त्यः ।
वर्षाण्यनु शरदो हेमन्तः शिशिरः इन्नु रन्त्यः।। साम पू0 616

ऋषिः वामदेवः। देवता-ऋतुः। छन्द :- पङ्क्तिः।

शब्दार्थ - (वसन्तः) बसन्त ऋतु (इत् नु) निश्चय ही (रन्त्यः) रमणीय और सुन्दर है, इसमें फूलों की सुवास व्याप्त रहती है। (ग्रीष्म इन्नु रन्त्यः) ग्रीष्म ऋतु भी निश्चय ही रमणीय और वाञ्छनीय है, ग्रीष्म ऋतु न तपे तो न वर्षा हो, न अन्न हो। गृह विहीन के लिये यही ऋतु सब से आरामदेह है। सारी गन्दगी को नष्ट कर देती है। (वर्षाणि) इस के बाद वर्षा ऋतु आती है, उसके तो कहने ही क्या हैं? वर्षा न हो तो अन्न न हो और सब भूखे मर जाएं। अतः यह सर्वाधिक रमणीय है लोकोक्ति इस बात की पुष्टि करती है 'बरसात के अन्धे को हरा ही हरा दीखता है। (अनु) तदनन्तर (शरदः हेमन्तः शिशिरः) शरद हेमन्त और शिशिर आती हैं (इत् नु रन्त्यः) इनमें से भी प्रत्येक रमणीय है। इन्हीं में मार्गशीर्षमास है, जिसके लिये गीता में कहा है 'मासानां मार्गशीर्षोऽस्मि'। इसी में माघ और फाल्गुन है, जिन्हें वेद ने विवाह के मास माना है। विवाह न हो तो न आकर्षण रहे और न सृष्टि चले। 'ऋतुं न निन्द्यात् तद्व्रतम्'। छान्दोग्य 2-16-2

निष्कर्ष - किसी ऋतु या परिस्थिति को कोसना नहीं चाहिये। उसकी विशेषता से लाभ उठा कर प्रसन्न रहते हुए जगन्निर्माता का आभार मानना चाहिये।

7. गौ सदा पवित्र है, और देव सदा निष्पाप; दोनों विश्व को-

सदा गावः शुचयो विश्वधायसः सदा देवा अरेपसः ।। साम पू0 442

ऋषिः – अवस्युः। देवता – गावः देवाः वा (विश्वेदेवाः)। छन्दः – द्विपदाविराट्।

शब्दार्थ – (गावः) गायें, सूर्यकिरणे और वेदवाणियाँ (विश्वधायसः) सब को अपना रस पिलाकर सबको धारण करती हैं तथा (शुचयः) पवित्र और पवित्रता कारक है। (सदा देवा अरेपसः) ज्ञान, बल या धन का दान करने वाले सदा दोष रहित और पाप शून्य रहते हैं। क्योंकि उनकी नीयत में हित होता है।

शुचय :- शुची अभिषवे (मंथने), शुचिर, पूतीभावे। काशकृत्स्न।

शेष – पुरानी परम्परा में इस मन्त्र का देवता विश्वेदेवाः माना गया है। किन्तु मन्त्र में गावः और देवाः शब्द आए हैं। ये दोनों अन्यत्र भी देवता हैं। इसलिये इन दोनों को या इनमें से किसी एक को ही देवता मानना चाहिये।

मनोहर विद्यालंकार

अगर तुम वैदिक आचार और विचार की रक्षा करना चाहते हो तो यह वस्तु याद रखो कि तुम्हे पग-पग पर रुपये मिल जायेंगे, मगर ब्रह्मचर्य का नीति का पाया यहाँ पर न होगा तो तुम्हारा गुरुकुल मिट्टी में मिल जाएगा। इस भूमि के तो आत्मा नहीं है। इसकी आत्मा तुम्ही हो। अगर तुम आत्मबल खो दोगे और 'उदर निमित्तं बहुकृत वेषः' जैसे बन जाओगे तो तुम्हारी शिक्षा बेकार हो जाएगी।

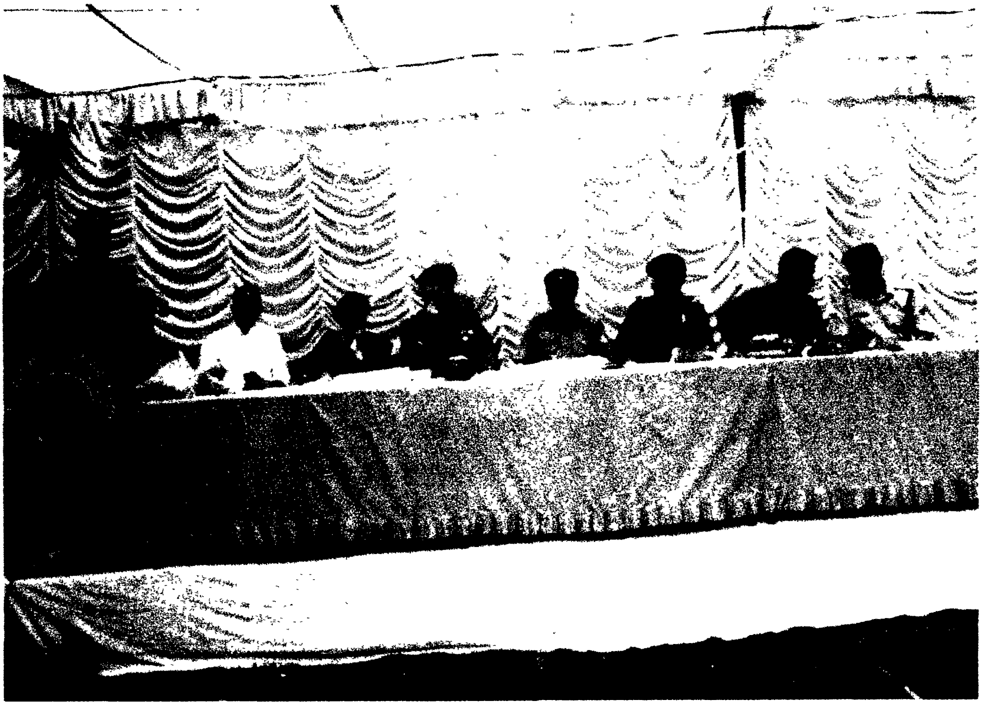
राष्ट्रपिता महात्मा गांधी

स्वामी दयानन्द सरस्वती का योगदान

स्वामी दयानन्द सरस्वती हमारे देश की महान् विभूति हैं। हमारे धर्म-दर्शन, हमारी संस्कृति तथा हमारे इतिहास में उनका योगदान प्रशस्त है। उन्होंने समाज का प्रबोधन किया और उन तत्वों का प्रकाशन किया, जो स्मृति के पटल से लुप्त हो गये थे। उन्होंने उस साहित्य के मर्म का उद्घाटन किया, उस दार्शनिक रहस्य का उन्मीलन किया, उस परम्परा के मूल का अनुसन्धान किया, उस चिन्तन -स्वरूप की व्याख्या की, उस पाण्डित्य तथा शैली का सूत्रपात किया, मानव के उस गूढ़ पक्ष का उपस्थापन किया, अध्ययन तथा मनन की उस भूमिका की रचना की, समाज के परिष्कार के लिए उन सूत्रों का संग्रह किया, भारतीय साहित्य, परम्परा तथा संस्कृति के उस आधार का निर्माण किया, जिसका साक्षात्कार भारत के मानस के लिए आवश्यक था, जिसका मनन देश के कल्याण के लिए नितान्त अपेक्षित था, जो हमारे पुरातन तथा नवीन के कमनीय समन्वय के लिए पूर्णत: उपयोगी था। स्वामी जी ने उन बिन्दुओं को प्रकाशित किया, जिनसे हमारी समग्र परम्परा की व्याख्या हो जाती है।

यद्यपि स्वामी जी का साहित्य विशाल है, किन्तु यहाँ संक्षेप में मौलिक तत्वों की उपस्थापना की जा रही है, जिससे उनके योगदान के सूत्र की मीमांसा तथा विभावना की जा सके।

स्वामी जी ने देखा कि भारतीय समुदाय अनेक मत-मतान्तरों में उलझा हुआ है। वह अपने मूल को भूल चुका है। यही कारण है कि उसमें भेद उत्पन्न हो गया है, उसका चिन्तन दोष-ग्रस्त हो गया है, अपनी परम्परा को समझने की उसकी शक्ति समाप्त हो गयी है। उन्होंने मूल को भारतीय मानस के सम्मुख प्रस्तुत किया और उसकी व्याख्या की । उन्होंने कहा कि वेद ही हमारी परम सम्पत्ति है। उसका साक्षात्कार नितान्त आवश्यक है । हमारा साहित्य, हमारा धर्म, हमारा दर्शन वहीं से चलता है। यदि उसकी समीचीन व्याख्या हो जाती है, तो समग्र इतिहास तथा परम्परा की व्याख्या हो जाएगी। वेद सनातन है, उसमें सारा रहस्य , समस्त ज्ञान तथा समस्त विज्ञान विद्यमान है। वही हमारा मूल है। उसे जानने वाला सब- कुछ जान जाता है। सामान्य साहित्य में जो हमारी रुचि है, वह अभीष्ट को प्रदान नहीं कर सकती । स्वामी जी ने यह भी देखा कि विद्वानों में वेदाध्ययन के प्रति कम रुचि है। वे अन्य साहित्य के अध्ययन में लगे रहते हैं, किन्तु वेद का अध्ययन नहीं करते । जो मूल को नहीं जान सकेगा, वह विकास-क्रम को नहीं जान सकेगा। वह सत्य का दर्शन तो कर नहीं सकता। स्वामी जी ने इस रहस्य का साक्षात्कार किया और इसे अपने व्याख्यानों, शास्त्रार्थों तथा ग्रन्थों में प्रकाशित किया । वे केवल व्याख्यानों के द्वारा ही अपने विचारों का प्रचार नहीं कर रहे थे, केवल शास्त्रार्थों में ही अपना समय नहीं बिता रहे थे, केवल ग्रन्थ निर्माण में ही नहीं प्रवृत्त थे। वे व्याख्यान, शास्त्रार्थ तथा ग्रन्थ -प्रणयन - इन तीनों का समन्वय कर अपने सिद्धान्त की प्रतिष्ठा कर रहे थे । इन तीनों में उनकी मेधा, उनकी तर्कविद्या (Dialectics)तथा उनके व्यापक पाण्डित्य का दर्शन किया जा सकता है। इन तीनों साधनों से उन्होंने वेद की महिमा का उपस्थापन किया। इससे न केवल विद्वत्मण्ड़ल, अपितु सामान्य जनसमुदाय भी वेद की ओर आकृष्ट हुआ और वेद के अध्ययन की परम्परा चल पड़ी। आज वेद के अध्ययन की जो परम्परा चल रही है, उसके प्रचार- प्रसार की जो गति है, उसमें स्वामी जी का महत्वपूर्ण योगदान है। यदि स्वामी जी केवल वेदभाष्य की रचना करते, तो वे एक विशेष



बायें से दायें- कार्यक्रम संचालक कैप्टन डा० राकेश शर्मा, आचार्य एवं उपकुलपति प्रो० वेदप्रकाश शास्त्री, श्रीमती कुलपति, ग्रुप कमाण्डर कर्नल एस०के० आहूजा, कुलपति कर्नल स्वतन्त्र कुमार, कमान अधिकारी ले० कर्नल नाचप्पा, जिलाधिकारी हरिद्वार श्री आर०के० सुधांशु, वरिष्ठ पुलिस अधीक्षक अभिनव कुमार



बायें से दायें- कुलपति कर्नल स्वतन्त्र कुमार, कमान अधिकारी ले० कर्नल नाचप्पा, जिलाधिकारी हरिद्वार श्री आर०के० सुधांशु, वरिष्ठ पुलिस अधीक्षक अभिनव कुमार

व्याख्याविज्ञान के ही जन्मदाता माने जाते और शायद इस दृष्टि से वे अपने लक्ष्य की पूर्ति न कर पाते जिसकी पूर्ति करने में वे अपने अन्य साधनों के सहयोग से सफल हुए, उन्होंने यह देखा कि वेद का प्रचार -प्रसार तथा जनमानस का परिष्कार केवल भाष्यप्रणयन से नहीं हो सकता, क्योंकि भाष्यप्रणयन से एक अंश का तो पोषण हो सकता है, किन्तु सर्वाङ्गीण पोषण नहीं होगा। उस सर्वाङ्गीण पोषण के लिए कुछ और अपेक्षित है। दूसरी बात यह भी है कि केवल ज्ञान के धरातल पर परिष्कार हो जाने से अभीष्ट की सिद्धि नहीं होने वाली है। उन्होंने कहा कि वेद के पहले कोई साहित्य नहीं है, वही हमारे लिए प्रमाण है। वह स्वत: प्रमाण है। "जैसे चारों वेद ईश्वर -कृत हैं, वैसे ऐतरेय, शतपथ, साम और गोपथ चारों ब्राह्मण, शिक्षा , कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष छ: वेदों के अङ्ग, मीमांसादि छ: शास्त्र, वेदों के उपाङ्ग आयुर्वेद, धनुर्वेद, गन्धर्ववेद और अर्थवेद ये चार वेदों के उपवेद सब ऋषि- मुनि के किये ग्रन्थ हैं। इनमें भी जो जो वेदविरुद्ध प्रतीत हो, उस उसको छोड़ देना, क्योंकि वेद ईश्वर-कृत होने से निर्भ्रान्त स्वत: प्रमाण अर्थात् वेद का प्रमाण वेद से ही होता है। ब्राह्मणादि सब ग्रन्थ परत: प्रमाण अर्थात् इनका प्रमाण वेदाधीन है।"- सत्यार्थ प्रकाश, पृ0 52 (दयानन्द संस्थान नई दिल्ली)

उन्होंने जो कुछ भी प्रतिपादन किया, उसका आधार वेद से लिया । वे जो कुछ भी कहते थे, उसे वेद के आधार पर ही कहते थे। वेद का उपदेश परमेश्वर ने किया है। वेदविद्या सर्वसुख का प्रकाश करने वाली सर्वविद्यामयी वेदविद्या है। ब्रह्माण्ड़ के उत्तम पदार्थों की प्राप्ति से जितना सुख मिलता है, वह सुख विद्या से प्राप्त सुख के हजारवें अंश के बराबर भी नहीं हो सकता। - ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका, पृ0 11 (आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट, दिल्ली)।

स्वामी जी ने वेदभाष्य प्रणयन के लिए परमेश्वर से प्रार्थना की है। उन्होंने लिखा है कि हे परमेश्वर सभी विघ्नों को दूर कर दीजिए। जिससे वेदभाष्य आपकी कृपा से सम्पूर्ण हो जाए और मनुष्यों का सदा उपकार करने वाला हो और आपकी कृपा से इस वेदभाष्य में सभी मनुष्यों की अत्यन्त प्रीति हो। ''अस्मिन् वेदभाष्यकरणानुष्ठाने ये दुष्टा विघ्नास्तान् प्राप्तेः पूर्वमेव परासुव दूरं गमय, यच्च शरीरबुद्धिसहायकौशलसत्यविद्याप्रकाशादिभद्रमस्ति, तत् स्वकृपाकटाक्षेण हे ब्रह्मन्, नोऽस्मभ्यं प्रापय भवत्कृपाकटाक्षसुसहायप्राप्त्या सत्यविद्योज्ज्वलं प्रत्यक्षादिप्रमाणसिद्धं भवद्रचितानां वेदानां यथार्थं भाष्यं वयं विदधीमहि। तदिदं सर्वमनुष्योपकाराय भवत्कृपया भवेत्। अस्मिन् वेदभाष्ये सर्वेषां मनुष्याणां परमश्रद्धयात्यन्ता प्रीतिर्यथा स्यात् तथैव भवता कार्यमित्योम्।''- ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, पृ02।

वे वेदभाष्य की रचना से सनातन अर्थ को प्रकाशित करना चाहते हैं, चाहते हैं कि वेद का सत्य अर्थ ही संसार में प्रसिद्ध हो। उनका कथन है कि मुनियों तथा ऋषियों की जो वेदार्थरीति है। उसीका आश्रय लेकर मन्त्रार्थ को प्रकाशित कर रहा हूँ-

''आर्याणां मुन्यृषीणां या व्याख्यारीतिः सनातनी।

तां समाश्रित्य मन्त्रार्था विधास्यन्ते तु नान्यथा ।।''

-ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका का प्रारम्भिक श्लोक6

वेद के वैशिष्ट्य के सम्बन्ध में वे कहते हैं- ''नावेदविन्मनुते तं बृहन्तमिति। यो मनुष्यो वेदार्थान् न वेत्ति स नैव तं बृहन्तं परमेश्वरं धर्मं विद्यासमूहं वा वेत्तुमर्हति। कुत:? सर्वासां विद्यानां वेद

एवाधिकरणमस्त्यतः। नहि तमविज्ञाय कस्यचित् सत्यविद्याप्राप्तिर्भवितुमर्हति। यद्यत् किञ्चित् भूगोलमध्ये पुस्तकान्तरेषु हृदयान्तरेषु वा सत्यविद्याविज्ञानमभूत् भवति भविष्यति च, तत् सर्वं वेदादेव प्रसृतमिति विज्ञेयम्। कुतः ? यद्यद् यथार्थं विज्ञानं तत्तदीश्वरेण वेदष्वधिकृतमस्ति। तद् द्वारैवान्यत्र कुत्रचित् सत्यप्रकाशो भवितुं योग्यः। अतो वेदार्थविज्ञानाय सर्वैर्मनुष्यैः प्रयत्नोऽनुष्ठेयः।'' -ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका, पृ0 248। जो जो सत्यविज्ञान है वह वह ईश्वर द्वारा वेद में ही निहित कर दिया गया है, इसलिए सभी मनुष्यों को वेदार्थविज्ञान के लिए प्रयत्न करना चाहिए। स्वामी जी वेद को नित्य मानते हैं। वह परमेश्वर की रचना है, उसका स्वतः प्रामाण्य है। वे सत्यार्थता तथा अपूर्वता की प्रतिष्ठा के लिए वेदभाष्य की रचना कर रहे हैं। वे उन्हीं ग्रन्थों को प्रामाणिक मानते हैं जो वेद का अनुगमन करते हैं। उन्होंने वेद के रहस्य को समझने के लिए उन्हीं ग्रन्थों का आश्रय लिया है, जो वेद के अत्यधिक समीप हैं। ब्राह्मण आदि ग्रन्थों में ऐसे विवेचन और कथन विद्यमान हैं, जिनसे वेद के गूढ़ तत्त्व सरलता से प्रकाशित हो जाते हैं। यदि वे बाद के ग्रन्थों का आश्रय लेते, तो इस प्रकार रहस्य का प्रकाशन नहीं कर सकते थे। उनके भाष्य से उनके पाण्डित्य का प्रकटन होता है। यदि उनका अध्ययन व्यापक न होता, तो वेद के गम्भीर रहस्य को न समझ पाते। स्वामी जी के व्याख्यान से स्थल-स्थल पर यह निर्देश मिल जाता है और समीक्षक भी समझ सकते हैं कि न केवल वेद को, अपितु विशाल संस्कृत-वाङ्मय के रहस्य को जानने के लिए वैदिक साहित्य का अनुशीलन नितान्त अपेक्षित है। भारत की जो परम्परागत विद्या है, उसे वेद के द्वारा प्रकाशित किया जा सकता है। अन्य स्थिति में यदि उसका अवलम्बन न करके तद्भिन्न साहित्य का आश्रय लेकर भारतीय ज्ञान-विज्ञान के मूल को समझने की चेष्टा की जायगी, तो सफलता नहीं मिलेगी। अपने सिद्धान्त की स्थापना में जो दृढ़ता आती है, वह भी वेदातिरिक्त का आश्रय लेने पर नहीं आ सकती। मैं इस प्रसंग में यह कहना चाहूँगा कि स्वामी जी के वेदभाष्य से केवल वेदतात्पर्य को ही समझने का प्रयास नहीं होना चाहिए। उससे यह भी देखना चाहिए कि कैसे उनके भाष्यविज्ञान (Hermeneuties) से अनेक शास्त्रों के रहस्य आत्मसात् किये जा सकते हैं और कैसे विशुद्ध जीवन की प्राप्ति और भिन्न-भिन्न कालों में सत्य का साक्षात्कार किया जा सकता है।

स्वामी दयानन्द जी ने भारतीय मानस को वेद तथा अष्टाध्यायी के अध्ययन की ओर मोड़ दिया। यदि वेद तथा व्याकरण का ज्ञान हो जाए, तो कोई भी शास्त्र अस्पृष्ट नहीं रह सकता। स्वामी जी ने इस तत्त्व का साक्षात्कार बड़ी गम्भीरता से किया। यदि इन दोनों को छोड़कर पुराणों की शरण में चले जाएँ, साहित्य तथा कलाओं की साधना में लग जाएँ या अन्य किसी शास्त्र का आश्रय ले लें, तो उस परमार्थ की प्राप्ति नहीं हो सकती, जो वेद-व्याकरण के अनुशीलन से होती है। पाण्डित्य का जो प्रकर्ष है, वह इन दोनों के द्वारा प्राप्त हो जाता है। स्वामी जी ने इसे सूक्ष्म दृष्टि से देखा होगा, उसकी व्याप्ति को देखा होगा, विभिन्न शास्त्रों के अधिगम में इनके उपयोग को देखा होगा, तभीं इनकी ओर प्रवृत्त हुए होंगे। इसीलिए अपने उपदेशों तथा क्रिया के द्वारा गुरुकुलों की स्थापना करके वेद-व्याकरण की रक्षा का स्तुत्य प्रयास किया। देश में गुरुकुलों की परम्परा चल पड़ी, वेद तथा अष्टाध्यायी के अध्ययन का शुभारम्भ हुआ। आश्रमों की स्थापना हुई, दैनिक कृत्य यज्ञ, प्रवचन आदि से प्राचीन गौरव को व्यापक चित्रपट पर प्रकट किया जाने लगा। स्वामी जी की ही प्रेरणा से नित्य जीवन-पद्धति का उदय हुआ। उस जीवन-पद्धति का उदय हुआ, जिससे हमें चेतना मिलती है, स्फुरत्ता प्राप्त होती है, अपनी रक्षा का संबल मिलता है, अपने रिक्थ को पहचानने की शक्ति मिलती है, अपने स्वरूप का साक्षात्कार

करने का सामर्थ्य मिलता है। यत: स्वामी जी ने बौद्धिक तथा व्यावहारिक दोनों धरातलों पर अपना योगदान अङ्कित किया, इसीलिए उनकी साधना, उनकी शिक्षा का व्यापक प्रभाव पड़ा। वह प्रभाव अपने देश तक ही सीमित नहीं रहा। वह विश्व में व्याप्त हो गया।

स्वामी जी ने एकेश्वरवाद का प्रतिपादन किया, बहुदेववाद तथा मूर्तिपूजा का खण्डन किया। ईश्वर की सिद्धि के विषय में वे लिखते हैं– '' वैसे इस प्रत्यक्ष सृष्टि में रचनाविशेष आदि ज्ञानादि गुणों के प्रत्यक्ष होने से परमेश्वर का भी प्रत्यक्ष है और अब आत्मा मन और मन इन्द्रियों को किसी विषय में लगाता वा चोरी आदि बुरी वा परोपकार आदि अच्छी बात के करने का जिस क्षण में आरम्भ करता है, उस समय जीव की इच्छा ज्ञानादि उसी इच्छित विषय पर झुक जाना है। उसी क्षण में आत्मा के भीतर से बुरे काम करने में भय, शंका और लज्जा तथा अच्छे कामों के करने में अभय, नि:शङ्कता और आनन्दोत्साह उठता है, वह जीवात्मा की ओर से नहीं, किन्तु परमात्मा की ओर से है और जब जीवात्मा शुद्ध होके परमात्मा का विचार करने में तत्पर रहता है उसको उसी समय दोनों प्रत्यक्ष होते हैं। जब परमेश्वर का प्रत्यक्ष होता है तो अनुमानादि से परमेश्वर का ज्ञान होने में क्या सन्देह है? क्योंकि कार्य को देख के कारण का अनुमान होता है।''–सत्यार्थप्रकाश, पृ0 118 वे ईश्वर को निराकार, दयालु, न्यायकारी, व्यापक, सर्वशक्तिमान् तथा अनादि मानते हैं। उन्होंने यह भी कहा कि ईश्वर अवतार नहीं लेता, क्योकि यह वेदविरुद्ध है।

देवताओं के जो नाम प्राप्त होते हैं, वे सभी एक परमेश्वर के ही अभिधान हैं। सूर्य, अग्नि आदि एक सद् वस्तु ब्रह्म के ही नाम हैं। यहाँ तक कि शनि, राहु, केतु आदि ग्रहों को भी वे परमात्मा का वाचक मानते हैं। इसका विशेष निरूपण वे सत्यार्थप्रकाश में करते हैं– ''य: शनैश्चरति स शनैश्चर:'– जो सब में सहज से प्राप्त धैर्यवान् है, इससे परमेश्वर का नाम शनैश्चर है।'' ''रह (त्यागे) इस धातु से राहु शब्द सिद्ध होता है। 'यो रहति परित्यजति दुष्टान्, राहयति, त्याजयति वा (राहुरीश्वर:) जो एकान्त स्वरूप जिसके स्वरूप में दूसरा पदार्थ संयुक्त नहीं, जो दुष्टों को छोडने और अन्य को छुड़ानेहारा है, इससे परमेश्वर का नाम राहु है।''

''(कित निवारणे रोगापनयने च) इस धातु से केतु शब्द सिद्ध होता है। 'य: केतयति चिकित्सति वा स केतुरीश्वर:' जो सब जगत् का निवास–स्थान सब रोगों से रहित और मुमुक्षुओं को मुक्तिसमय में सब रोगों से छुडाता है, इसलिए उस परमात्मा का नाम केतु है।'' सत्यार्थ प्रकाश, प्रथम समुल्लास।

स्वामी जी ने भारतीय समाज की रचना के मूल को भी खोज लिया। चूँकि उन्होंने वेद के रहस्य का साक्षात्कार कर लिया था, इसलिए उन्हें समाज की रचना के रहस्य को समझने में कोई कठिनाई नहीं हुई। उन्होंने देखा कि भारतीय जनता तो आर्य है। आर्य से ही हमारी संस्कृति का विस्तार हुआ है। वहीं विशुद्ध उत्स है। इस रहस्य का साक्षात्कार कर लेने के बाद स्वामी जी ने आर्य समाज की स्थापना की। इससे उन्होंने समाज में उत्पन्न भेद को समाप्त करने का प्रयास किया। इस दृष्टि से समाज के परिष्कार में उनका योगदान महत्वपूर्ण है।

वर्णव्यवस्था के सम्बन्ध में भी दयानन्द जी का विचार नया है। वे कर्म के अनुसार वर्ण मानते हैं– ''इससे यह भी सिद्ध होता है कि जो ब्राह्मणादि उत्तम कार्य करते हैं वे ही ब्राह्मणादि और जो

नीच भी उत्तमवर्ण के गुण कर्म स्वभाव वाला होवे तो उसको उत्तम वर्ण में और जो उत्तमवर्णस्थ होके नीच काम करे तो उसको नीच वर्ण में अवश्य गिनना चाहिए।''-सत्यार्थप्रकाश, पृ0 62।

बाल विवाह के विरुद्ध भी स्वामी जी ने आन्दोलन किया। उनका एक महत्वपूर्ण कार्य शुद्धिविषयक था। इसका लक्ष्य था भारत को सामाजिक तथा धार्मिक दृष्टि से एक सूत्र में बाँधना। स्वामी जी के जो विचार थे, वे बौद्धिक वर्ग तक ही सीमित नहीं थे। उन्होंने जनता में अपने मत का प्रचार किया, जिससे उनका सिद्धान्त देश-विदेश में फैला। उन्होंने अन्य धर्म-प्रचारकों की पद्धति से भिन्न पद्धति का अवलम्बन किया और यही उनकी सफलता का मन्त्र बना। चूँकि उन्होंने जिस तत्व को देखा, उसका सम्बन्ध सामान्य जनता से था, अत: जनता तक पहुँचना उनका लक्ष्य था। उनकी बात सीधी थी और समझने में किसी प्रकार की कठिनाई नहीं होती थी। यदि किसी को जनता का उद्धार करना है, तो उसे जनता तक पहुँचना होगा और जनता की भाषा में कहना होगा। सरस्वती जी संस्कृत के विद्वान् थे और गुजरात के थे। उनकी भाषा गुजराती थी, फिर भी उन्होंने हिन्दी में रचना की, क्योंकि वे जानते थे कि हिन्दी के माध्यम से उनकी बात जन-जन तक पहुँच सकती है। इस प्रसङ्ग में उनका अवदान स्पष्ट है। वे सत्यार्थ प्रकाश की भूमिका में लिखते हैं- ''जिस समय मैंने यह ग्रन्थ सत्यार्थ प्रकाश बनाया था, उस समय और उससे पूर्व संस्कृत भाषण करने पठन पाठन में संस्कृत ही बोलने और जन्मभूमि की भाषा गुजराती होने के कारण से मुझको इस भाषा का विशेष परिज्ञान न था, इससे भाषा अशुद्ध बन गई थी। अब भाषा बोलने और लिखने का अभ्यास हो गया है। इसलिए इस ग्रन्थ को भाषाव्याकरणानुसार शुद्ध करके दूसरी बार छपवाया है।''-सत्यार्थप्रकाश, पृ0 7

हिन्दी के प्रचार में स्वामी जी का योगदान कितना प्रशस्त है- इसका अनुमान उनके कार्यों से लगाया जा सकता है। सत्यार्थप्रकाश की रचना हिन्दी में करते हैं और हिन्दी का व्यापक आधार तैयार करते हैं। हिन्दी में रचना करने के कारण उनका विचार अधिक लोगों तक पहुँच सका और उससे समाज में विशेष परिवर्तन हुआ।

स्वामी दयानन्द भारतीय समाज में निश्चित रूप से एक गतिशील शक्ति थे। जितने सामाजिक तथा धार्मिक सुधारक थे, उनकी अपेक्षा दयानन्द जी सरस्वती को अधिक सफलता मिली, क्योंकि उनके और जनता के बीच में किसी भाष्यकार की आवश्यकता नहीं थी। वे जनता को समझते थे और जनता उनको समझती थी। यही कारण है कि उनकी शिक्षा का पूरे विश्व में प्रचार हुआ। उन्होंने समाज की संघटना को तो सुदृढ़ आधारशिला दी ही, शिक्षा के नवीन मानदण्ड की भी स्थापना की। उन्होंने कहा-वेद की ओर लौटो और वहीं तुमको सब-कुछ मिल जायगा। भारत का निर्माण वेद से ही हो सकता है- यह मन्त्र स्वामी जी का था। उनके सामाजिक तथा शैक्षणिक कार्यों को उनके अनुयायियों ने समझा और उनके आधार पर संस्थाओं की स्थापना की। उनके अनुयायियों में दो धाराएं बनी। एक ने राष्ट्रीय आन्दोलन को ध्यान में रखते हुए अंग्रेजी शिक्षा को भी महत्व दिया, जिसका फल हुआ दयानन्द ऐन्ग्लो वैदिक संस्थाओं (Dayanand Anglo-Vedic Colleges) की स्थापना। इसके प्रमुख प्रतिनिधि थे महात्मा हंसराज। दूसरी धारा की प्रतिनिधि संस्था बनी स्वामी श्रद्धानन्द द्वारा स्थापित



NAAC राष्ट्रीय सेमिनार में डा० यू०एस० बिष्ट Coordinator, I.Q.A.C. एवं सेमिनार के स्थानीय सचिव आगन्तुक विद्वानों को सम्बोधित करते हुये। मंच पर विराजमान हैं- (दायें से) प्रो० वेदप्रकाश शास्त्री आचार्य एवं उपकुलपति, प्रो० स्वतंत्र कुमार कुलपति, प्रो० एस०आर० भट्ट तथा पद्मश्री प्रो० सत्यव्रत शास्त्री



"२१वीं शताब्दी के लिये शिक्षा मूल्यों के मापदण्ड" विषय पर राष्ट्रीय संगोष्ठी (NAAC) में माननीय कुलपति प्रो० स्वतंत्र कुमार (दाएं) मुख्य अतिथि डा० आर०एस० टोलिया मुख्य सचिव, उत्तरांचल सरकार (मध्य) तथा प्रो० पिल्लै वाइस चेयरमैन यू०जी०सी० विशिष्ट अतिथि (बाएं) के साथ

गुरुकुल कांगडी विश्वविद्यालय, हरिद्वार, जो आधुनिक जीवन मे भी वैदिक आदर्श को मूर्त करने के लिए सन्नद्ध रही है।

इस प्रकार स्वामी जी ने शिक्षा के क्षेत्र मे अभिनव प्रयोग का सूत्रपात किया। इसका आधार प्राचीन भारतीय शिक्षा थी। दूसरा प्रयोग समाज के परिष्कार के सम्बन्ध में था, जो क्रान्तिकारी था। तीसरा प्रयोग हिन्दी के प्रचार-प्रसार को दृष्टि में रखकर था। इन तीनों क्षेत्रों में स्वामी जी के प्रयोग सफल रहे और उनका योगदान प्रशस्त रहा। उन्होने न केवल भारतीय मानव को आन्दोलित किया। अपितु अपने उत्कृष्ट चिन्तन तथा तर्क से विश्व के मानव को भी प्रभावित किया। यही कारण है कि आज वेद, आर्यसमाज तथा गुरुकुल प्रेरणा प्रदान कर रहे है।

प्रो0 अमरनाथ पाण्डेय
एन 1/30, ए-9 नगवा,
वाराणसी -221 005

महर्षि दयानन्द स्वाधीनता संग्राम के सर्वप्रथम योद्धा और हिन्दू जाति के रक्षक थे। उनके द्वारा स्थापित आर्यसमाज ने राष्ट्र की महान् सेवा की है और कर रहीं है। स्वतन्त्रता के संग्राम में आर्य समाजियों का बड़ा हाथ रहा। महर्षि का लिखा अमर ग्रन्थ 'सत्यार्थप्रकाश' हिन्दू जाति की रगो में ऊष्ण रक्त का सञ्चार करने वाला है। 'सत्यार्थ प्रकाश' की विद्यमानता में कोई विधर्मी अपने मज़हब की शेखी नहीं मार सकता।

स्वातन्त्र्यवीर सावरकर

व्रात्य की आसन्दी

अथर्ववेद का एक छोटा-सा कथानक है। एक बार व्रात्य किसी राज्य में गया। वह लगातार एक वर्ष तक खड़ा रहा। देवों का ध्यान उसकी ओर गया और उन्होंने उससे पूछा-व्रात्य, खड़े क्यों हो? व्रात्य ने कहा, मेरे लिए आसन्दी (राजकीय चौकी) लाइए, तब मैं बैठूँ। उन्होंने तुरन्त आसन्दी बनानी आरम्भ कर दी। ग्रीष्म और बसन्त उसके दो पाये (पैर) हुए, शरद् और वर्षा शेष दो पाये। बृहत् और रथन्तर लम्बाई की पाटियाँ बनीं, यज्ञायज्ञिय तथा वामदेव्य चौड़ाई की पाटियाँ। ऋचाओं के तारों से ताना तना गया, यजु: के तारों से बाना डाला गया। उस पर 'वेदस्' का बिछौना लगाया, 'ब्रह्म' की चादर बिछायी। 'साम' का आसन बिछा, 'उद्गीथ' का तकिया लगा। इस प्रकार जब आसन्दी बनकर तैयार हो गयी, तब व्रात्य उस पर बैठा। सब देवजन उसके परिचारक बन गए। संकल्प उसके दूत बने। सब भूत दरबारी बनकर उसके पास आ बैठे, उसके 'उपसद' हो गये। जैसे उस व्रात्य के सब भूत 'उपसद' हो गए, वैसे ही जो इस रहस्य को समझ लेता है, उसके भी सब भूत 'उपसद' हो जाते हैं।[1]

व्रात्य कौन है?

वेदोत्तरकालीन साहित्य में अधिकतर व्रात्य शब्द निन्दित अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। व्रात्य उसे कहा गया है जिसके जातकर्मादि संस्कार नहीं होते, और उसे पतित माना गया है।[2] पर कहीं-कहीं 'व्रात्य' का प्रयोग अच्छे अर्थों में भी हुआ है। प्रश्नोपनिषद् में प्राण को व्रात्य कहा है, जिसका अर्थ शंकराचार्य ने 'जिसे संस्कार की आवश्यकता ही नहीं, अर्थात् जो स्वभावत: शुद्ध है[3] ऐसा किया है। बाद के युग में व्रात्य नि:सन्देह अच्छे अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। उपर्युक्त कथानक में व्रात्य विराट् परमेश्वर है। उसे व्रात्य इस कारण कहा है, क्योंकि वह व्रतनिष्ठ है। जगत् की उत्पत्ति, जगत् का धारण, यथासमय जगत् का संहार, समग्र नियम-व्यवस्था, पाप-पुण्य का फल-प्रदान आदि अनेक व्रतों को उसने स्वेच्छा से ग्रहण किया हुआ है। व्रत अर्थात् जन-समुदाय का हितकारी होने से भी वह व्रात्य कहलाता है। वह व्रात्य समस्त जगत् का सम्राट् है। अन्य मानवी राजा मानो सब उसी के सामन्त हैं।

व्रात्य खड़ा क्यों रहा?

ऐसा जगत् का अद्वितीय सम्राट् किसी राष्ट्र में पहुँचा है। उस राष्ट्र के वासियों को चाहिए तो यह था कि सब प्रकार से उसके स्वागत का आयोजन करें, किन्तु किसी का उसकी ओर ध्यान नहीं जाता। ध्यान देने की वहाँ किसी को फुर्सत ही नहीं। सारा राष्ट्र विलासी जीवन में रत है। न वहाँ धर्म है, न सत्कर्म है, न विद्या है, न सत्य है, न न्याय है। वह राष्ट्र पतन की चरम सीमा को पहुँचा हुआ है। वहाँ तो व्रात्य के विरोधी असुर का स्वागत हो रहा है। व्रात्य देखता है कि इस राष्ट्र में मेरे योग्य स्थान नहीं है, अत: वह वहाँ खड़ा ही रहता है। असल में व्रात्य सर्वत्र ही है। जो उसे बैठने के लिए आसन देते हैं, उनके यहाँ वह बैठ जाता है। जो आसन नहीं देते और उसे बैठाना नहीं चाहते, वहाँ वह खड़ा रहता है। इसी प्रकार उस राष्ट्र में भी खड़ा रहा। व्रात्य के लिए खड़ा होने, बैठने आदि का व्यवहार आलंकारिक है। जिस राष्ट्र में परमेश्वर की पूजा होती है, उसके आदेशों का पालन होता है, वहाँ वह बैठा हुआ है, ऐसा कहा जा सकता है। जहाँ उसका नाम-कीर्तन करनेवाला कोई नहीं है, वहाँ मानो वह खड़ा हुआ है।

देवों का ध्यान गया

जब कोई राष्ट्र बहुत दिनों तक पतित रहता है और वहाँ ईश्वर का निवास नहीं रहता, तब कुछ ऐसे देवजन उस राष्ट्र में जन्म लेते हैं, जिन्हें राष्ट्र का यह पतन और राष्ट्र की यह ईश्वरविमुखता अखरते हैं। उन्हें यह असह्य हो जाता है कि हम व्रतपति एवं सर्वजन-हितकारी परमेश्वर का आतिथ्य न करें। वे प्रयत्न करते हैं कि उस राष्ट्र के सब लोग परमेश के पुजारी हों तथा पुण्य कर्मों में संलग्न हों। राम, श्रीकृष्ण, बुद्ध, शंकराचार्य, ऋषि दयानन्द आदि इसी देवकोटि के पुरुष रहे हैं। इसी प्रकार इस कथानक में देवों का ध्यान इस ओर गया। इसी बात को कहानी के रूप में इस तरह कह दिया गया है कि उन्होंने व्रात्य से कहा कि हे व्रात्य, तुम खड़े क्यों हो, हमारे राष्ट्र में बैठते क्यों नहीं? व्रात्य ने उत्तर दिया-मेरे योग्य आसन्दी ही नहीं है, बैठूँ कहाँ?

आसन्दी का अभिप्राय

जब कोई सत्पुरुष हमसे मिलने आता है, तब उसे बैठने के लिए उसके योग्य आसन, चौकी, कुर्सी आदि देते हैं। इसी प्रकार व्रात्य जब हमारे राष्ट्र में अतिथि बनकर आया है, तब हमें उसे आसन प्रदान करना चाहिए। उसका आसन क्या है? जैसे वह स्वयं भौतिक शरीर-धारी नहीं है, वैसे ही ये भौतिक कुर्सी, पलंग, मखमली गद्दे आदि उसके आसन नहीं हो सकते। उसे आसन देने का अभिप्राय है राष्ट्र में उसके बैठने योग्य वातावरण उत्पन्न करना। बहुत दिनों की बात है, एक बार किसी संस्था के संचालकों ने महात्मा गांधीजी को अपने यहाँ आने का निमन्त्रण भेजा। महात्माजी ने कुछ बातें लिख भेजीं--क्या आपके यहाँ खद्दर पहना जाता है? हरिजनों के साथ भेदभाव तो नहीं रखा जाता? क्या आप लोग सूत कातते हैं आदि? यदि आपकी संस्था में इन बातों की प्रवृत्ति है, तो मैं आऊँगा, अन्यथा नहीं। मानो ये बातें ही महात्माजी के बैठने योग्य आसन थीं। ऐसे ही किसी राष्ट्र में परमेश्वर का वास हो, परमेश्वर वहाँ बैठे, इसके लिए कुछ अनुकूल परिस्थितियों की आवश्यकता है। उन्हीं परिस्थितियों को व्रात्य की आसन्दी या चौकी कहा जा सकता है। देवपुरुषों ने उन परिस्थितियों को राष्ट्र में उत्पन्न करने का यत्न किया। इसी को प्रकारान्तर से इस रूप में भी कह सकते हैं कि उन्होंने व्रात्य के बैठने के लिए आसन्दी बनानी आरम्भ कर दी।

आसन्दी के चार पैर

सर्वप्रथम पैर या पाये कल्पित किए जाने चाहिएं, क्योंकि उन्हीं के ऊपर राजकीय आसन्दी का सारा ढाँचा खड़ा होना है। ग्रीष्म, वसन्त, शरद् और वर्षा ही उसके चार पैर हुए। यों तो वर्ष में छह ऋतुएँ होती हैं, पर हेमन्त तथा शिशिर को शरद् के ही अन्तर्गत कर लेने से पूर्वोक्त चार ऋतुएँ हो जाती हैं। आगे आसन्दी के जो भी अंग बताये जायेंगे अर्थात् व्रात्य के बैठने योग्य जो भी परिस्थितियाँ कही जायेंगी, उन सब का आधार ये ही ऋतुएँ होंगी। इस कारण इन्हें चौकी के पैर कहा गया है। अभिप्राय यह है कि देवों ने यह प्रयत्न किया कि जो भी हम व्रात्य के अनुकूल परिस्थितियाँ उत्पन्न करें, वे सभी ऋतुओं में अर्थात् सारे वर्षभर बनी रहें, ऐसा न हो कि क्षणिक रूप में वे आएँ और चली जाएँ।

चारों पाटियाँ

पाये बन जाने के अनन्तर पाटियों की बारी आयी। बृहत् और रथन्तर लम्बाई की पाटियाँ बनीं और यज्ञायज्ञिय तथा वामदेव्य चौड़ाई की पाटियाँ। ये चारों साम के भेद हैं। देवपुरुषों ने अपने राष्ट्र में

साम-गान का अधिकाधिक प्रचार किया। गीति ईश्वर-भक्ति को जगाने में बहुत सहायक है। इस साम-गान के प्रचार से परमेश्वर के निवास के लिए और अधिक अनुकूल परिस्थिति पैदा हो गयी। मानो आसन्दी की पाटियाँ बनकर तैयार हो गयीं। बृहत् आदि चारों शब्दों से अन्य भी विशेष भाव सूचित होते हैं। 'बृहत्' विशालता, उदारता तथा महत्त्वाकांक्षी होने का द्योतक है। इसलिए बृहत् को पहली पाटी बनाने का भाव यह भी है कि देवपुरुषों ने यह प्रयत्न किया कि सब राष्ट्रवासी विशाल और उदार हृदय वाले हों, संकुचित प्रवृत्ति और स्वार्थ-भावना को छोड़ें तथा मनों में ऊँची आकांक्षाएँ संजोएँ। दूसरी पाटी 'रथन्तर' है। रथन्तर शब्द का अर्थ है-'रथ द्वारा मार्ग को पार करने की कला'। सब मनुष्यों को शरीररूपी उत्तम रथ मिला हुआ है। उस रथ की सहायता से कैसे विघ्न-बाधाओं से भरे हुए विकट मार्ग को तय करके लक्ष्य तक पहुँचा जा सकता है, यह विद्या रथन्तर-विद्या कहलाती है। देव-पुरुषों ने इस विद्या का भी राष्ट्र में प्रचार किया। उन्होंने अपने देशवासियों का ध्यान आकृष्ट किया कि तुम्हें यह मानव-योनि या मनुष्य-रथ प्राप्त हुआ है, इस रथ पर तुम निरुद्देश्य मत बैठे रहो। जीवन में लक्ष्य बनाओं और उस तक पहुँचने के लिए शरीर-रथ को काम में लाओ। यह आसन्दी की दूसरी पाटी तैयार हो गयी। तीसरी पाटी 'यज्ञायज्ञिय' है। यज्ञायज्ञिय शब्द यज्ञ-कर्मों को सूचित करता है। अत: इसे पाटी बनाने का भाव है कि देव-पुरुषों ने राष्ट्र में यज्ञ-कर्मों का प्रसार किया। ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, पितृयज्ञ, अतिथियज्ञ, भूतयज्ञ इन पंचयज्ञों तथा अन्य विभिन्न यज्ञों को प्रोत्साहन दिया। चौथी पाटी 'वामदेव्य' है। वाम का अर्थ श्रेष्ठ या सुन्दर होता है। इस प्रकार राष्ट्र में 'सत्यं, शिवं, सुन्दरम्' की भवना का प्रचार ही वामदेव्यरूपी चौथी पाटी का निर्माण है।

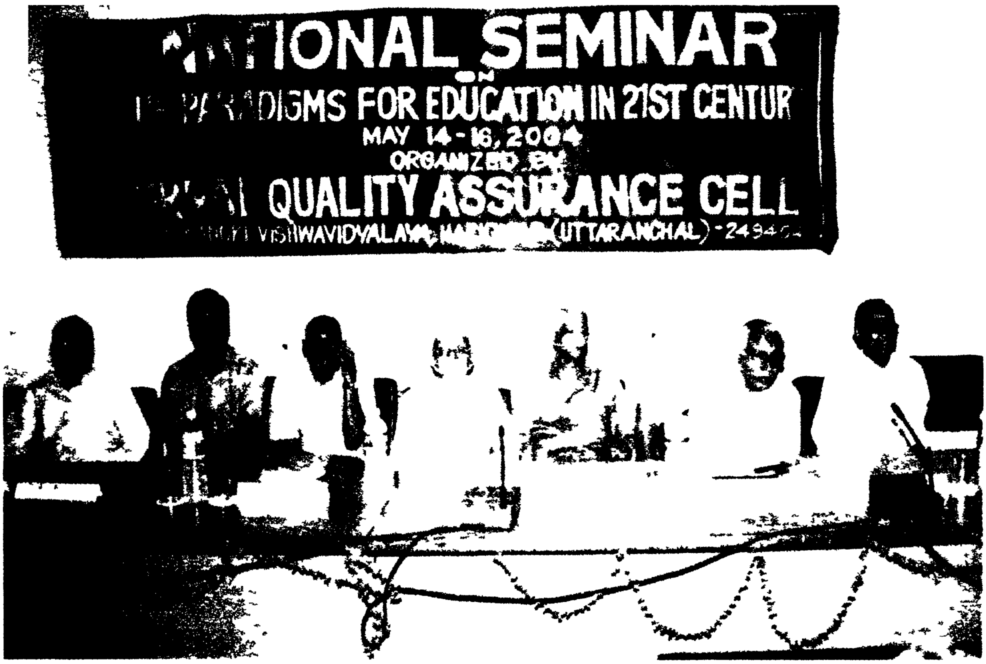
ताना-बाना

पाटियाँ तैयार हो गयीं। अब उन पर बुनावट डाली जानी है। ऋचाएँ ताने के तन्तु बनीं और यजु: बाने के तन्तु। इस प्रकार ऋक् और यजु: के तन्तुओं से वह आसन्दी बुनी गयी। ऋग्वेद का सम्बन्ध ज्ञानकाण्ड से है और यजुर्वेद का कर्मकाण्ड से। अत: ऋचाओं से ताना तनने का भाव है कि उन देव-पुरुषों ने राष्ट्र में अधिकाधिक ज्ञान का प्रसार किया। ऐसा प्रयत्न किया कि सब प्रकार के ज्ञान-विज्ञानों में हमारा देश शिरोमणि हो जाए। इस तरह ज्ञान का ताना तना गया। परन्तु केवल ताना किसी काम का नहीं, जब तक उसमें बाने के तार न डाले जायें। इसी प्रकार केवल ज्ञान किसी समाज या राष्ट्र की उन्नति के लिए पर्याप्त नहीं है, जब तक उसके साथ उससे मेल खाते कर्म न हों। अत: जब देव-पुरुषों ने ज्ञान के साथ कर्मों का भी प्रचार किया, तब मानो उस आसन्दी का बाना भी पुर गया। अब उस राष्ट्र के लोग मूर्खता को छोड़कर विद्याग्रहण में और सदाचरण में समय व्यतीत करने लगे। एवं व्रात्य के बैठने योग्य बहुत-कुछ परिस्थिति उत्पन्न हो गयी।

अन्य साज

पाये बन गये, उनमें पाटियाँ पड़कर आसन्दी का ढाँचा बन गया। ताना-बाना डालकर बुनावट भी कर दी गयी, किन्तु अभी अन्य साज तो बाकी है। क्या सारे जगत् का सम्राट् खाली चौकी पर बैठ जाएगा? नहीं, अभी तो उस पर बिछौना बिछना चाहिए, बिछौने के ऊपर बढ़िया-सी मखमली चादर बिछनी चाहिए। चादर के ऊपर एक सुन्दर-सा कढ़ा हुआ आसन होना चाहिए। ढासने के लिए तकिया या मसनद भी चाहिए। तब व्रात्य उस पर बैठेगा।

कथानक में कहा है कि उस बुनावट के ऊपर 'वेदस्' का बिछौना बिछाया गया। वैदिक कोष



NAAC राष्ट्रीय सेमिनार मे मंचासीन (दाएं से) प्रो० वेदप्रकाश शास्त्री आचार्य एवं उपकुलपति, प्रो० स्वतंत्र कुमार कुलपति, प्रो० एस०आर० भट्ट दिल्ली वि०वि०, पद्मश्री प्रो० सत्यव्रत शास्त्री (पूर्व कुलपति सं०सं०वि०वि०), प्रो० के०पी० पाण्डे (पूर्व कुलपति), प्रो० ए०के० चोपडा कुलसचिव एवं प्रो० वीरेन्द्र अरोडा प्राचार्य विज्ञान महाविद्यालय



दिनांक २७ मार्च २००४ को ''मानसिक स्वास्थ्य समस्याऐं एवं समाधान'' विषय पर आयोजित राष्ट्रिय सेमिनार में सम्मिलित (बाएं से) प्रो. स्वतंत्र कुमार, कुलपति गुरुकुल कांगडी वि.वि., प्रो. वेदप्रकाश शास्त्री, आचार्य एवं उपकुलपति, प्रो. उपमन्यु वी.वी. पंजाब वि.वि. चण्डीगढ, प्रो. जी.पी. ठाकुर, काशी विद्यापीठ वाराणसी, डॉ. सी.पी. खोखर, मनोविज्ञान विभाग, गुरुकुल कांगडी विश्वविद्यालय

निघण्टु (2.10) के अनुसार 'वेदस्' का अर्थ धन है। अत: वेदस् का बिछौना बिछाने का अर्थ है राष्ट्र को पूर्ण धनधान्य-सम्पन्न और समृद्धिशाली बना देना। अन्यथा, जो राष्ट्र धन-हीन है, जहाँ के लोगों के पास दो समय पेट भरने को अन्न नहीं है, उस राष्ट्र में परमेश्वर को कौन पूछेगा?

बिछौना भी बिछ गया, अब इसके ऊपर एक चमकती चादर चाहिए, जिससे वह आसन्दी जगमगा उठे। 'ब्रह्म' ही वह चादर है। ब्रह्म का अर्थ है अध्यात्म-विद्या। यदि उस धन-दौलत के बिछौने को अध्यात्म-विद्या की चादर से नहीं ढका जाएगा, तो वह एकांगी होने से राष्ट्र के लिए बड़ी घातक और दु:खदायी वस्तु सिद्ध होगी। धन के नशे में चूर होकर कौन उन्मत्त नहीं हो जाता? इसलिए जहाँ एक ओर धन है, वहाँ साथ ही उन धनी लोगों में अध्यात्म-पिपासा, योगाभिरुचि, अन्तर्मुखी वृत्ति होनी भी आवश्यक है। तभी वह देश ईश्वर के वासयोग्य हो सकता है। नहीं तो, ब्रह्मभावना-रहित इन्द्रियाँ धन को विलास की वस्तु ही समझेंगी।

बिछौने पर चादर भी बिछ गई। अब उस पर सुन्दर आसन होना चाहिए, जिसके ऊपर व्रात्य बैठेगा। 'साम' ही वह आसन है। साम का सम्बन्ध उपासना काण्ड से है। 'साम' शान्ति और भक्ति का प्रतीक है। लोग सच्ची शान्ति के अनुरागी हों, भक्ति उनका सोमरस हो, जीवन को समस्वरता-युक्त तथा संगीतमय बनाना उनका ध्येय हो, सामवेद की ऋचाओं का गान करते हुए वे भक्ति में लीन रहते हों, ऐसी अवस्था जिस राष्ट्र की हो जाए, वहाँ व्रात्य नहीं बैठेगा, तो और कहाँ बैठेगा?

पर अभी आसन्दी पर तकिया, मसनद या ढासना तो लगा ही नहीं। आराम से बैठने के लिए उसका होना भी आवश्यक है। देवपुरुष बड़े कुशल होते हैं, उन्होंने उसकी भी व्यवस्था कर दी है। 'उद्गीथ' ही उसका तकिया या मसनद है। उद्गीथ का अर्थ है ओंकार या प्रणव-जप। देवपुरुषों की प्रेरणा से राष्ट्र के वासी लोग अपने अन्दर परमेश्वर को बद्धमूल करने के लिए ओंकार का जप भी करने लगे। अब किस बात की कमी रही? अब तो राजकीय चौकी के सब अंग पूर्ण हो गए, पूरा साज एकत्र हो गया। अब तो व्रात्य को बैठना ही चाहिए।

व्रात्य बैठ गया

यह लीजिए, व्रात्य बैठ गया। जो असन्तुष्ट होकर निरन्तर वर्ष-भर खड़ा रहा था, वह आज सुप्रसन्न होकर बैठ गया है। किन्तु अब भी सावधानी की आवश्यकता है। बड़ी कठिनाई से व्रात्य ने बैठना स्वीकार किया है। कहीं ऐसा न हो कि उसके सत्कार में कुछ त्रुटि रह जाए और वह रुष्ट होकर फिर उठ खड़ा हो, देवपुरुषों का अब तक का सब प्रयत्न व्यर्थ हो जाए। नहीं, देवजनों को इसकी भी पूरी चिन्ता है। जो अपने सुख-दु:ख की परवाह न कर अहर्निश व्रात्य की आसन्दी को बनाने में, देश में ईश्वरवासयोग्य वातावरण पैदा करने में, सचेष्ट रहे हैं, उन्हें क्या इसकी चिन्ता नहीं होगी कि व्रात्य के बैठने के पश्चात् उसके आतिथ्य में कुछ त्रुटि न रहे?

परिचारक, दूत और दरबारी

सब देवजन व्रात्य के परिचायक (परिष्कन्द) बन गए हैं। वे सर्वात्मना उसकी आराधना में लीन हैं। जब एक बार उन्होंने अपने देश में उसे बैठा लिया है, तो अब वे उसे अप्रसन्न होकर उठने नहीं देंगे। जो बातें उसे प्रिय हैं, उनका वे देश में सतत् प्रचार करते रहेंगे।

पर दूत कौन बनेगा? जब व्रात्य सम्राट् बनकर राजकीय आसन्दी पर आरूढ़ हो गया है, तो

उसके दूत भी होने चाहिए, जिन्हें राष्ट्र में इधर-उधर भेजकर वह कार्य कराएगा। संकल्प ही उसके इतस्ततः भेजे जानेवाले दूत (प्रहाय्याः) हैं। मानवी सम्राटों की तरह उसे शरीरधारी दूतों की अपेक्षा नहीं है। उसके संकल्पों में बड़ा सामर्थ्य है। अपनी संकल्प-शक्ति से ही उसने सृष्टि रची है और सृष्टि को धारण भी कर रहा है। वे उनके संकल्प ही उसके लिए दूतों का कार्य करेंगे। जैसे कोई मनुष्य-राजा अपनी किसी प्रजा को कोई सन्देश भेजना या प्रेरणा करना चाहता है तो दूतों द्वारा करता है, वैसे ही वह जिस व्यक्ति में जो प्रेरणा भरना चाहेगा, अपने संकल्प से ही भर देगा।

जब राष्ट्रवासियों ने ऐसे विलक्षण सम्राट् को अपने मध्य सिंहासन पर बैठा लिया है, तब कौन है जो उसके उपसन्न न हो, दरबारी बनकर उसके दरबार में उपस्थित न हो? सब भूत, सब देशवासी उसके चरणों में शीश झुका रहे हैं और उन्होंने अपने सब आपसी झगड़े, अपनी सब फरियादें उसी पर छोड़ दी हैं। वे अपने-आपको उसके दरबार में बैठा हुआ अनुभव करते हैं और प्रतीक्षा कर रहे हैं कि वह किन कर्त्तव्य-कर्मों की, किन राज-नियमों की, हमारे लिए घोषणा करता है। जो उसका आदेश होगा, उसे पालन करने के लिए सब नर-नारी तैयार हैं।

क्या हम व्रात्य नहीं बन सकते?

कथानक के अन्त में कहा है कि चाहें तो हम भी व्रात्य बन सकते हैं। व्रात्य की इस महिमा को हम हृदयंगम करें और अपने जीवन में घटाने का यत्न करें। हम भी उस बड़े व्रात्य के समान व्रतनिष्ठ बनें, जन-समुदाय का नेतृत्व करने की शक्ति अपने अन्दर उत्पन्न करें। तब हमें भी जनता ऊँचा आसन देगी और हमारे भी सब लोग 'उपसद' बनेंगे, अपनी-अपनी समस्याएँ लेकर सुलझाने के लिए हमारे समीप आएँगे और हमारे निर्णय तथा आदेश की प्रतीक्षा में खड़े रहेंगे। हमारे मुख से जो कुछ निकलेगा, उसका अक्षरशः पालन करने में वे गौरव अनुभव करेंगे। हम खड़े होंगे तो हमें बिठाने के लिए सबकी आँखें हमारी ओर लगी रहेंगी।

पाद-टिप्पणियाँ

1. स संवत्सरमूर्ध्वोऽतिष्ठत्। तं देवा अब्रुवन् व्रात्य किं नु तिष्ठसीति। सोऽब्रवीदासन्दीं मे संभरन्त्विति। तस्मै व्रात्यायासन्दीं समभरन्। तस्या ग्रीष्मश्च वसन्तश्च द्वौ पादावास्तां शरच्च वर्षाश्च द्वौ। बृहच्च रथन्तरं चानूच्ये आस्तां यज्ञायज्ञियं च वामदेव्यं च तिरश्च्ये । ऋचः प्राञ्चस्तन्तवो यजूंषि तिर्यञ्चः। वेद आस्तरणं ब्रह्मोपबर्हणम्। सामासाद उद्गीथोऽपश्रयः। तामासन्दीं व्रात्य आरोहत्। तस्य देवजनाः परिष्कन्दा आसन्, संकल्पाः प्रहाय्याः विश्वानि भूतान्युपसदः। विश्वान्येवास्य भूतान्युपसदो भवन्ति य एवं वेद।

-अथर्ववेद, काण्ड 15, पर्याय 3

2. सावित्रीपतिता व्रात्या भवन्त्यार्यविगर्हिताः। - मनु0 2.39
व्रात्यः संस्कारहीनः स्यात्। - अमरकोश 2.7.53
3. 'व्रात्यस्त्वं प्राणैकऋषिस्ता' - प्रथमजत्वादन्यस्य संस्कर्तुरभावादसंस्कृतो व्रात्यस्त्वं, स्वभावत एवं शुद्ध इत्यभिप्रायः। - प्रश्न उप0 2.11 का शांकरभाष्य।

आचार्य डॉ0 रामनाथ वेदालंकार

ओ३म् अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्। होतारं रत्नधातमम्।। ऋ० सं० १।१।१।।

अन्वयः – पुरोहितं यज्ञस्य देवम् ऋत्विजं होतारं रत्नधातमम् अग्निम् ईडे।

(1) **अन्वयार्थ :–** (**पुरोहितम्**) सृष्टि उत्पत्ति से पूर्व ही विद्यमान (**यज्ञस्य देवम्**) सृष्टि-उत्पत्ति-रूप यज्ञ के प्रकाशक (**ऋत्विजम्**) ऋतु-ऋतु में नाना प्रकार के पदार्थों के उत्पादक (**होतारम्**) सब सुखों के दाता और (**रत्नधातमम्**) सूर्य-चन्द्रमा, हीरे-मोती, स्वर्ण-रजत आदि श्रेष्ठ रमणीय एवं उपकारी पदार्थों के अतिशय करके धारण करने एवं करानेवाले (**अग्निम् ईडे**) ज्ञानस्वरूप प्रकाशस्वरूप अग्रणी परमेश्वर की मैं स्तुति करता हूँ, मैं पूजा करता हूँ।

परमेश्वर इस सृष्टि यज्ञ का पुरोहित है। वह इस की रचना से पूर्व विद्यमान रहता है। वह इसकी रचना कर ऋतु-ऋतु में नानाविध खाद्य-पेय लेह्य एवं चूष्य आदि पदार्थों को उत्पन्न कर हमें प्रदान करता है। इतना ही नहीं वह स्वयं चन्द्र, हीरे-मोती, स्वर्ण-रजत आदि नानाविध उपकारी पदार्थों से भी हमारा बहुविध उपकार करता है। ऐसे कर्मानुसार अपनी न्याय-व्यवस्था से भोग मोक्ष के दाता प्रकाशस्वरूप पावन-परमेश्वर की स्तुति-प्रार्थना और उपासना सदा हम सबको करनी चाहिए।

(2) **अन्वयार्थः –** (**पुरोहितम्**) पुरः हितम्, अर्थात् सदा सम्मुख-स्थित रहनेवाले (**यज्ञस्य देवम्**) श्रेष्ठतम यज्ञ आदि शुभ कर्मों के प्रकाशक (**ऋत्विजम्**) ऋतु-ऋतु, अर्थात् प्रत्येक ऋतु में पूजनीय (**होतारम्**) सब प्रकार के सुख-सौभाग्यों, अर्थात् बाहर-भीतर के सुख-शान्ति और आनन्दों के दाता (**रत्नधातमम्**) दिव्य गुण-कर्म-स्वभाव रूप रमणीय रत्नों को अतिशय करके सदा स्वयं धारण कर अलंकृत रहने वाले एवम् अपने समीप आये हुए उपासकों को धारण करा समलंकृत करने वाले (**अग्निम् ईडे**) ज्योतिर्मय प्रकाश के अनुपम स्रोत प्रभु का हृदय की टीस के साथ मैं स्मरण करता हूँ-स्तवन करता हूँ।

सदा सम्मुख उपस्थित रहनेवाले, यज्ञ आदि शुभ कर्मों का उपदेश करने वाले, सर्वथा, सर्वदा पूजनीय, सुख-शान्ति एवं आनन्द के दाता दिव्य गुण-कर्म स्वभावों के धारण करने वाले पावन परमेश्वर की श्रद्धा से ओत-प्रोत होकर उपासक को स्तुति, प्रार्थना और उपासना करनी चाहिये।

(3) **अन्वयार्थ :–** (**पुरोहितम्**) पूर्व से ही हित करने के कारण सदा सम्मुख रहने वाले (**यज्ञस्य देवम्**) यज्ञ आदि शुभ कर्मों का प्रकाश करने वाले, सम्पादन करने वाले (**ऋत्विजम्**) ऋतु-ऋतु के अनुसार घृत-सामग्री से यज्ञ करने-कराने वाले वा समयानुसार यज्ञ संस्कार आदि करने-करानेवाले (**होतारम्**) कल्याणतम पथ पर अग्रसर होने के लिये सदुपदेश देने वाले (**रत्नधातमम्**) उत्तम गुण- कर्म-स्वभावरूप रमणीय रत्नों को खूब धारण करने-कराने वाले (**अग्निम् ईडे**) ज्ञान प्रकाश के धनी सच्चे ज्ञानी, विद्वान् अग्रणी नेता की मैं हृदय से स्तुति करता हूँ। प्रशंसा करता हूँ पूजा करता हूँ। सत्कार करता हूँ।

हमें चाहिये कि हम उस सच्चे हितैषी पुरोहित की सच्चे हितैषी नेता की सदा पूजा करें, सेवा-शुश्रूषा करें, जो कि व्यक्ति, परिवार, समाज और राष्ट्र के कल्याण के लिये समय-समय पर यज्ञ आदि उत्तम कर्मों का सदा सम्पादन करता रहता है, और उन शुभ कर्मों से सदा अपने को एवम् अपने अनुगामियों को संलग्न रखता हुआ उत्तम गुण-कर्म-स्वभाव से अलंकृत करता रहता है।

वेदरत्न प्रो० राम प्रसाद वेदालंकार
पूर्व आचार्य एवं उपकुलपति
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार-249404

कालिदाससूक्तीनां याथार्थ्यम्

विक्रमादित्यस्य नवरत्नेषु अमूल्यरत्नरूपेण विख्यातस्य महाकवेः कालिदासस्य सर्वासु दिक्षु प्रसरन्ती कीर्तिचन्द्रिका कस्य सचेतसः चेतसि आनन्दातिरेकं न जनयति? कविरसौ प्रकृतिवर्णने, मनोभावचित्रणे, रसप्रयोगे, उपमादि अलंकारयोजनायां, पदलालित्ये च श्रेष्ठतम इति न तिरोहितं विपश्चिदपश्चिमानाम्। महाकवेः कालिदासस्य नाटकेषु, महाकाव्येषु च देशस्यास्य निखिलापि संस्कृतिः, कृत्स्नमपि काव्यसौन्दर्यं, भावसौन्दर्यं वा तथा प्रलभ्यते यथा भारतीयजनाः पाठं-पाठं कालिदास साहित्यं परमानन्दमनुभवन्ति। न केवलं कल्पना विलासः, न चापि केवलं श्रृंगाररसप्रवाहः, अपितु कालिदास-रचनासु पदे-पदे विचारगाम्भीर्यं दृष्टिपथमुपैति, प्राप्यन्ते च बहुविधाः अमृतोपदेशाः। महाकविना सर्वेषु काव्येषु बाहुल्येन सुधाधारामप्यधरी कुर्वन्त्यः सूक्तयः प्रतिपादिताः सन्ति। विचारणे कृते सति सूक्तय इमाः मानवस्य सर्वविधहितं सम्पादयन्ति, प्रेरयन्ति च कल्याणमार्गे। कालिदासकाव्ये गणनातीताः शाश्वत् सन्देशदायकाः सूक्तयः विराजन्ते। आसां सूक्तीनां रमणीयत्वं विलोक्य पञ्चाननः बाणः निगदति-

निर्गतासु न वा कस्य कालिदासस्य सूक्तिषु।
प्रीतिर्मधुरसान्द्रासु मंजरीष्विव जायते।।

कालिदासगिरां माधुर्यं, तस्य रचनासु विद्यमानमर्थगौरवं च संलक्ष्य टीकाकारो मल्लिनाथो भणति-

कालिदासगिरां सारं कालिदास सरस्वती।
चतुर्मुखोऽथवा साक्षाद् विदुर्नान्ये तु मादृशाः।।

साम्प्रतम् आस्वादयामः महाकवेः सूक्तीनां सुधासोदरं माधुर्यम्। कुमारसंभवमहाकाव्ये कविः निगदति-

एको हि दोषो गुणसन्निपाते निमज्जतीन्दोः किरणेष्विवाङ्कः।

केषां काव्यामृतरसज्ञानामविदितं यत् चन्द्रमसि विद्यते एकः कृष्णाङ्कः। परं सः कृष्णाङ्कः सुधांशोः धवलासु रश्मिषु निलीयते न केवलं निलीयते अपितु तस्य सुधाकरस्य रमणीयत्वम् अभिवर्द्धयति, तथैव कस्मिंश्चिदपि विविधगुणगणविभूषिते जने यदि कोऽपि एको दोषो वर्त्तते तर्हि सः दोषः गुणेषु निमज्जितो भवति। तस्यैव कुमारसम्भवमहाकाव्यस्य अपरेयं सूक्तिः-

क्षुद्रेऽपि नूनं शरणं प्रपन्ने ममत्त्वमुच्चैः शिरसां सतीव।

अस्यां सूक्तौ महात्मनां स्वभावो वर्णितः महाकविना। महात्मानः शरणागतं सत्पुरुषं प्रति यथा आत्मीय भावं प्रदर्शयन्ति तथैव शरणागते तुच्छजनेऽपि स्नेहभावपूर्णमाचरणं कुर्वन्तो दरीदृश्यन्ते। महनीयचरितानां महात्मनाम् स्नेहपूर्णादृष्टिः सर्वान् आनन्दयति। यथा भगवान् भास्करः निखिलं जगत् प्रकाशयति, सर्वस्य जगतः तिमिरनिकरमपाकरोति, जलधराः साधूनामसाधूनां देवानामसुराणां वा सर्वेषामेव पिपासां शमयन्ति, वायुः सर्वेषां प्राणिनां जीवनं धारयति तथैव महापुरुषाणां न कोऽपि परकीयो भवति। भगवान् श्रीरामः लंकायुद्धे शरणागते दशाननभ्रातरि विभीषणे तथैव स्निह्यति विश्वसिति च यथा सुमित्रानन्दने लक्ष्मणे आञ्जनेये हनुमति वा। अपरेयं सूक्तिः विभावयन्तु-

'विकारहेतौ सति विक्रीयन्ते येषां न चेतांसि त एव धीराः'।

भगवता मनुना धर्मलक्षणे सर्वप्रथमं धृतेः, धैर्यस्य समुल्लेख अकारि। धर्मग्रन्थेषु, साहित्ये च सर्वत्रैव धैर्यस्य महिमा वर्ण्यते। सम्प्राप्ते विपत्तिकाले धृतिमान् जनः न केवलम् आत्मानम् अपितु अन्यान् अपि

रक्षितुं प्रभवति। अत्र प्रश्नोऽयं समुदेति– को नु खलु धीरः ? महाकविः निगदति स एव धीरः यस्य चित्तं विकारकारणे सत्यपि विकृतो न जायते। स एव सत्यशीलः धर्मशीलः यस्य मनः प्रतिकूलवातावरणेऽपि विचलितं न भवति। सम्मुखे समुपस्थिताम् अपूर्वलावण्योपेतां नायिकां विभाल्यापि यस्य मनसि विकारः नोदेति स एव ब्रह्मचारी स एव च संयमी। महाकविः कालिदासः विश्वविश्रुते अभिज्ञानशाकुन्तले हेमकूटनाम्नि देवभूमौ तपस्यतां तपस्विनां विस्मयजननं चित्रणं कुर्वाणो निगदति–

प्राणानामनिलेन वृत्तिरुचिता सत्कल्पवृक्षे वने,
तोये काञ्चनपद्म रेणुकपिशे धर्माभिषेकक्रिया।
ध्यानं रत्नशिलातलेषु, विबुधस्त्रीसंन्निधौ संयमो,
यत्कांक्षन्ति तपोभिरन्यमुनयः तस्मिंस्तपस्यन्त्यमी।।

धन्यास्ते वन्दनीयचरिताः महात्मानः ये विविधानि भोगसाधनानि प्राप्यापि विचालिताः न भवन्ति। त एव धीराः मन्तव्याः। सूक्तिरन्यैका विचिन्त्यताम्–

'आदानं हि विसर्गाय सतां वारिमुचामिव'।

भारतीयेयं संस्कृतिः जीवनपद्धतिर्वा। यथा नीरदाः पृथिव्याः जलमादाय पुनः शतकृत्वा सहस्रकृत्वा वा भूम्यै प्रयच्छन्ति तथैव सत्पुरुषाः यत् प्राप्नुवन्ति, अर्जयन्ति, भूयसा परिश्रमेण वा लभन्ते तत् सर्वं परोपकाराय समर्पयन्ति। यथा निगदति भगवति श्रुतिः–'शतहस्त समाहर सहस्रहस्त संकिर'। अर्थात् हे मानव! त्वं शतहस्तैः शतप्रकारैः धनमर्जय, परमार्जितं तद्धनं सहस्रहस्तैर्विकिर। इयमेव अर्थस्य पूर्णता सार्थकता वा विद्यते। कालिदासेन रघुवंश महाकाव्ये रघुकुलोत्पन्नानां महीभृतां चारु चरित्रचित्रणं कुर्वता अयमेव भावः प्रकटितः। ते हि राजानः प्रजाभ्यः करग्रहणमकार्षुः, प्रजानां कल्याणार्थमेव च संगृहीतं धनं प्रजाभ्यः समर्पयामासुः। यथा दिवाकरः स्वकिरणैः पृथिव्याः जलाहरणं करोति सहस्रगुणं कृत्वा च पृथिव्यै प्रयच्छति–

प्रजानामेव भूत्यर्थं स ताभ्यो बलिमग्रहीत्।
सहस्रगुणमुत्स्रष्टुमादत्ते हि रसं रविः''।।

सुप्रसिद्धे शाकुन्तलनाटके सुपठितां कालिदासस्य सूक्तिमिमामास्वादयन्तु सहृदयाः–

'भवितव्यानां द्वाराणि भवन्ति सर्वत्र'

विधात्रा अस्माकं भाग्ये यल्लिखितं यन्निश्चितं तदस्माभिरवश्यमेव प्राप्यते गृहे वा वने वा, गहने समुद्रे वा विशाले पर्वते वा, ग्रामे वा नगरे वा यदस्माभिः प्राप्तुं योग्यमस्ति तस्य वस्तुनः प्राप्तेः द्वाराणि भवन्ति सर्वत्रैव। कण्वाश्रमे प्रविष्टे सति दुष्यन्तस्य दक्षिणबाहुः स्फुरति, तस्य मनसि विचारोऽयं समुत्पद्यते, दक्षिणबाहोः स्फुरणस्य फलम् अस्मिन् शान्ते तपोवने कथं प्राप्स्ये? तदानीमेव शंकायाः अस्याः समाधानं महाकविरनया सूक्त्या करोति। अधिगता च निसर्ग सुन्दरी शकुन्तला दुष्यन्तेन तस्मिन् सुपावने आश्रमपदे। महाकविः कालिदासः दुष्यन्तमुखेन कण्वसुतायाः शकुन्तलायाः सौन्दर्यवर्णनं कुर्वाणो गायति–

सरसिजमनुविद्धं शैवलेनापि रम्यं
मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति।
इयमधिकमनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी,
किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम्।।

पद्येऽस्मिन् वल्कलवस्त्रावृता तन्वङ्गी शकुन्तला अतीव रमणीया दृश्यते। यथा शैवलेन आच्छादितं सरोजं

रमणीयं भवति, यथा च सुधांशोः कृष्णाङ्कः तस्य शोभां संवर्द्धयति तथैव विविधाभूषणवस्त्ररहिता केवलं वल्कलं धारयन्ती शकुन्तला राजतेतमाम्। अत एवोच्यते येषां यासां च आकृतयः मधुराः भवन्ति तेषां तासां च सर्वाण्येव वस्तूनि आभूषणानि भवन्ति। अयमेव भावः षष्ठांके कञ्चुकी कथनेऽपि प्राप्यते – 'अहो सर्वास्ववस्थासु रमणीयत्वमाकृतिविशेषाणाम्'।

शाकुन्तलनाटकस्यैव अन्याऽपीयं हृद्या सूक्तिः केषां सहृदयानामनुरञ्जनाय न क्षमते –
'सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः'

अस्यायमाशयः जीवने विविधकार्यव्यापृतमानसानामस्माकं चेतांसि कस्मिंश्चिद् अवसरे शंकाकुलानि भवन्ति, एवं विधे अवसरे सन्देहनिवारणाय न कोऽपि आप्तपुरुषः उपस्थितो भवति, तदा सज्जनानाम् अन्तःकरणप्रवृत्तिरेव प्रमाणकोटीम् आटीकते। विधिना सत्पुरुषाणां हृदयं तथा निर्मितमस्ति यत् संप्राप्ते सन्देहे तस्य निवारणे प्रभवति।

एवंविधाः शतशः सूक्तयः कालिदासकाव्ये यत्र तत्र विलसन्ति। आसु सर्वासु सूक्तिषु यद् भावगाम्भीर्यम्, अर्थगौरवं च विद्यते तन्न काल्पनिकं नापि च केवलमादर्शरूपमपितु सर्वथा व्यावहारिकं याथार्थ्योपेत च वर्तते। अत एव महाकविः कालिदासोऽद्यापि अतिशेते अन्यान् सर्वान् अपि कवीश्वरान्।

डॉ० महावीर अग्रवालः
आचार्यः संस्कृत विभागस्य
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालयः
हरिद्वारम्।

स्वराज्य महिमा

कोई कितना ही (यत्न) करे, जो स्वदेशीय राज्य होता है वह सर्वोपरि होता है। यदि मत-मतान्तर के आग्रह से रहित, अपने पराये के पक्षपात से शून्य, प्रजा पर माता-पिता के समान कृपा करने वाला, न्याय और दया से युक्त भी विदेशियों का राज्य हो, तो भी पूर्ण सुखदायक नहीं हो सकता। (क्योंकि) भिन्न-भिन्न भाषा का पृथक्-पृथक् शिक्षा का और अलग-अलग व्यवहार का विरोध छूटना अति दुष्कर है। बिना इसके छूटे एक दूसरे का पूरा उपकार होना, अभिप्राय सिद्ध होना कठिन है।

स्वामी दयानन्द सरस्वती

मेरी दृष्टि में आचार्य रामदेव जी

प्रस्तुत लेख के लेखक पं0 चन्द्रकेतु जी वर्षों गुरूकुल सूपा व गुरुकुल कांगड़ी विद्यालय में कार्यरत रहे। आपके बड़े भाई पं0 सत्यपाल जी सिद्धान्तालंकार की पुराने गुरूकुल में शेर से भिड़न्त की घटना प्रसिद्ध है। आपके छोटे भाई देशरत्न पं0 किशोरी लाल जी सरदार भगत सिंह के साथी और महान् क्रान्तिकारी स्वतन्त्रता सेनानी थे।

पं0 जी ने मेरे अनुरोध पर गुरुकुल व क्रान्तिकारियों से सम्बन्धित अनेक लेख मुझे लिखकर दिए। पं0 जी हमारे बीच अब नहीं हैं, किन्तु उनके लेख हमारे लिए महान् प्रेरणा स्रोत हो सकते हैं-

प्रस्तुतकर्ता –महावीर नीर' विद्यालंकार
गुरुकुल कांगड़ी , हरिद्वार

लगभग आज से 70 वर्ष पुरानी बात है, जब मैं छोटा सा बालक ही था, और शाखा गुरुकुल मुलतान का विद्यार्थी था। गुरुकुलों के उत्सव उन दिनों बड़ी धूम-धाम से हुआ करते थे। गुरुकुल पार्टी तथा कॉलेज पार्टी की परस्पर स्पर्धा तथा मुकाबला हुआ करता था। अत: दोनों के उत्सवों पर बड़े-बड़े दिग्गज प्रसिद्ध आर्य विद्वानों के धुँआधार व्याख्यान हुआ करते थे। गुरुकुल मुलतान के उत्सव पर प्रोफेसर रामदेव जी आचार्य के पधारने पर सारे शहर में धूम मच जाती थी। उनके व्याख्यानों में नौ-दस हजार नागरिक श्रोताओं की उपस्थिति होती थी। उस समय शहर में भी बिजली नहीं आई थी। लाऊड़ स्पीकर का तो आविष्कार भी न हो पाया था। उस समय हाथी के कानों से भी बड़े -बड़े बैंत के बने दौहरे पंखे हवा में लेकर बड़े-बड़े प्रतिष्ठित नागरिक व्यक्ति श्रोताओं को हवा करने में बड़ा गौरव अनुभव करते थे। श्रोताओं के जूतों की देखभाल तथा रख-रखाव तो आर्य समाज के उच्च अधिकारी स्वयं करते थे। ऐसी अवस्था में सिवाय पंजाब केसरी लाला लाजपत राय तथा आचार्य रामदेव जी के ओर किस की हिम्मत थी कि इतनी पब्लिक में अत्यन्त ऊँचे स्वर से दूर से दूर बैठे श्रोताओं के कानों तक स्पष्ट आवाज पहुंचा सके। मंच पर पानी भरा एक घड़ा तथा एक कांच का गिलास रखा रहता था। व्याख्यान के बीच-बीच में अनेक बार आचार्य जी स्वयं सेवक से जल लेकर पीते, और पुन: गर्जना प्रारम्भ कर देते । उनके व्याख्यान 1½ या 2 घंटे से कम के नहीं होते थे। श्रोतागण अत्यन्त शान्त भाव से स्तब्ध होकर मन्त्र मुग्ध से बैठे हुए आचार्य जी की अमृत वाणी का श्रवण करते रहते। थोड़ी 2 देर बाद तालियों की गड़-गड़ाहट से पंडाल गूँज उठता। तुरन्त ही पुन: स्तब्धता छा जाती। आचार्य जी आर्य समाज के परम भक्त और स्वामी दयानन्दजी के प्रशंसक थे। उन्होंने अपना सम्पूर्ण जीवन आर्य समाज व गुरुकुल के लिए अर्पित कर दिया था। आचार्य जी जब भी स्वामी दयानन्द के गुणगान करने लगते तो वे अत्यन्त भावविभोर हो जाते थे। उस समय स्वामी जी के बारे में बोलते-बोलते किसी यूरोपीय विद्वान् की लिखी पुस्तक के कुछ वाक्य इतनी मर्मस्पर्शी वाणी से बोलते थे कि वे शब्द आज भी मेरे हृदय में गूँज रहे प्रतीत होते हैं।

उनका सारांश इस प्रकार था-

"पूर्व में एक छोटी सी चिंगारी पैदा हुई है। लोगों ने पहले उसे बड़ी उपेक्षा की दृष्टि से देखा। जब वह बढ़ने लगी तब ईसाई, मुसलमान, तथा अन्य धर्मावलम्बियों ने उसे बुझाने का भरसक प्रयत्न किया, परन्तु आश्चर्य यह है कि वह आग इन प्रयत्नों से और भड़क उठी । यह किसी के वश की न रही । मैं देखता हूँ कि वह आग शीघ्र सारे ही संसार भर में व्याप्त होकर जो कुछ भी कलुषित, असत्य और पापमय है, उसे भस्म कर देगी। यह चिंगारी स्वामी दयानन्द के रूप में पैदा हुई है।" दूसरी बात जो जोश खरोश से ऊँची आवाज में गरजकर बोलते थे वह यह थी-

"शीघ्र ही वह समय आने वाला है, जब यूरोप और अमरीका महाद्वीप भी वैदिक धर्म के नाद से गूँज उठेंगे। तब लंदन और न्यूयार्क के गिरजाघरों पर भी "ओ3म्" के झंडे लहराने लगेंगे।"

उक्त वाक्य के कहने पर तो सारा मंडप आर्य समाज की जय जयकार तथा तालियों की गड़-गड़ाहट से गूँज उठता था। और आचार्य रामदेव जी पसीना 2 होकर व्याख्यान समाप्त कर अपना आसन ग्रहण करते थे-

"होनहार बिरवान के होत चिकने पात"

कवि के ये शब्द आचार्य जी के जीवन पर पूणरूपेण चरितार्थ होते हैं।

आचार्यजी का जन्म पंजाब के नगर होशियारपुर के उपनगर "बजबाड़ा में भल्ला परिवार में 31 जुलाई सन् 1881 ई. में हुआ था। आप डी.ए.वी. कॉलेज लाहौर के प्रिंसिपल महात्मा हंसराज जी के मौसेरे भाई थे। अत: डी.ए.वी. कॉलेज लाहौर के अधीनस्थ विद्यालयों में ही आपकी शिक्षा दीक्षा हुई थी। तब तक लाहौर ही नहीं समस्त पंजाब में ही आर्य समाज के दो दल हो चुके थे। डी.ए.वी. कॉलेज के पक्षवाली आर्य सदस्य मांसपार्टी, दूसरा दल घासपार्टी के नाम से पहिचाना जाता था। बाद में प्रथम दल कॉलेज पार्टी तथा दूसरा दल गुरुकुल पार्टी के नाम से पहिचाना जाता रहा। कॉलेजदल के नेता थे महात्मा हंसराज जी तथा लाला लाजपतराय जी इत्यादि। गुरुकुल दल के नेता लाला मुंशी राम जी वकील, लाला देवराज जी, महाशय कृष्ण जी तथा पं0 गुरुदत्त जी इत्यादि। विद्यार्थी रामदेव भी मांस पार्टी के पक्ष पोषक ही नहीं अपितु प्रचारक भी थे, विद्यार्थियों में महात्मा मुंशीराम जी के प्रति दुर्भावना, घृणा तथा निन्दा फैलाना अपना कर्तव्य समझते थे। अभी तक आपने मुंशी राम जी के दर्शन भी नहीं किये थे। 13 वर्ष की अवस्था में आपका विवाह जालंधर में हुआ। उस समय मंडप में कन्या पक्ष की ओर से जालंधर के प्रसिद्ध वकील लाला मुंशी राम जी और लाला देव राज जी भी उपस्थित थे। रामदेव को बताया गया कि यह जो सामने बैठे हैं यही मुंशी राम है। सारे फसाद की जड़ यही है। रामदेव ने उनको बड़ी घृणा की दृष्टि तथा तिरस्कार भरी दृष्टि से देखा - यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि जिस कन्या से उनका विवाह हुआ वह कुछ साल तक कन्या महाविद्यालय जालंधर में ही पढ़ी हुई थी। रामदेव जी कॉलेज में शिक्षा ग्रहण कर रहे थे- तब म0 हंसराज जी ने उनको एक काम सौंपा कि प्रति रविवार तुम गुरुकुल पार्टी की आर्यसमाज वच्छो वाली में जाकर देखा करो कि कौन-कौन से व्याख्याताओं के वहाँ पर प्रवचन होते हैं। और उनके उपदेशों में समाज मन्दिर में श्रोताओं की संख्या कितनी होती है। इस नियम का पालन करते हुए किशोर रामदेव ने अमर शहीद पं0लेखराम जी पं0गुरुदत्त विद्यार्थी तथा महात्मा मुंशीराम जी के सारगर्भित उपदेश भी सुने, बस फिर क्या था। डी.ए.

वी कालेज के प्रथम वर्ष के विद्यार्थी पर गुरुकुल पार्टी का रंग चढ़ गया। उस जमाने में सनातनधर्मी हिन्दू तो **स्त्रीशूद्रो नाधीयाताम्**'' के कट्टर पक्षपाती थे ही परन्तु साथ ही डी.ए.वी. कालेज के आर्य सदस्य भी स्त्री शिक्षा के कट्टर विरोधी थे। परन्तु महात्मा मुंशी राम जी ने लाला देवराज जी की सहायता से जालंधर शहर में एक कन्या महाविद्यालय नाम से लड़कियों की पाठशाला खोल दी। इस कार्य के लिये आप दोनों को गाली गलोच, निन्दा और दुर्वचनों के सिवाय ईट पत्थर की चोट भी सहनी पड़ी। और विरादरी से बहिष्कार की धमकी भी दी गई। आप दोनों दृढ संकल्प महापुरुष थे।

''न्यायात् पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः''

कवि की इस उक्ति के अनुसार ध्रुव के समान स्थिर रह कर इस महान् कार्य में तत्पर रहे। इन महान् तपस्वियों के कार्य को तटस्थ भाव से रामदेव विद्यार्थी देख रहे थे। वह इतने प्रभावित हुए कि उनके विचारों के पोषक बन गये। उस समय डी.ए.वी कालेज से एक अंग्रेजी में पत्रिका ''आर्य मैगजीन'' निकला करती थी। उसके सम्पादन का भार भी रामदेव पर ही था। इस पत्रिका में आपने एक काल्पनिक कहानी लिखी जो छपी भी। कहानी की नायिका जालन्धर कन्या महाविद्यालय की एक बालिका ही थी शिक्षा। उसने इस कन्या महाविद्यालय से पढ़कर विवाह के उपरान्त अपने महापातकी दुराचारी, शराबी कबाबी, तथा जुआरी पति को किस प्रकार अपने सद्व्यवहार से उत्तम, सच्चरित्र नागरिक बना दिया और किस प्रकार अपने ससुराल में रहकर सम्पूर्ण परिवार को स्वर्ग सुखमय बना दिया। यह दर्शाया गया था।

सारांश यह कि उस लघु कथा के माध्यम से लेखक ने कन्या महाविद्यालय की भूरि भूरि प्रशंसा की थी। कालेज पार्टी में इस कथा को लेकर हंगामा मच गया। क्योंकि उस समय तक गुरुकुल कांगडी की स्थापना न हो पाई थी। घास पार्टी इस कन्या महाविद्यालय से ही पहिचानी जाती थी। कालेज के प्रिंसिपल महात्मा हंसराज जी ने रामदेव जी को भविष्य में ऐसा जघन्य अपराध न करने की चेतावनी दे दी। परन्तु अधिकारी वर्ग इतने से ही संतुष्ट न हुए। अनुशासन की कार्यवाही पर तुल गये। उधर रामदेव महात्मा मुन्शी राम जी की पार्टी का प्रचार कार्य भी करते रहे और साथ ही चन्दा भी। इधर महात्मा मुंशी राम जी के व्याख्यानों से प्रभावित होकर रामदेव जी भी परदे के भी विरोधी बन गए। कॉलेज पार्टी तो परदे के पक्ष में ही थी। एक दिन रामदेव जी ने अपने दो तीन मित्रों को घर ले जाकर अपनी पत्नी से उनका परिचय करा दिया। इस पर भल्ला परिवार में भयंकर हलचल मच गई। रात्रि के 10 बजे पिता जी ने रामदेव जी को बुलाकर समझाया, बुझाया-डराया, धमकाया भी पर रामदेव जी तो अपने संकल्प पर दृढ रहे। और नम्रतापूर्वक यही कहते रहे-मैं स्त्रियों के परदे का पक्षपाती नहीं हूँ और सम्पूर्ण आयु इसका विरोध ही करता रहूँगा। मैं तो अपने जीवन में स्त्रियों को पुरुषों के समान अधिकार का प्रचार करता रहूँगा। क्रोध के आवेश में पिता जी बोले तो फिर मेरे घर से निकल जाओ। 'जैसी आज्ञा' कहकर दूसरे दिन प्रातःकाल अपनी पुस्तकें लेकर कालेज जा पहुँचे बाहर नोटिस बोर्ड पर सूचना टंगी थी, जिसमें महात्मा पार्टी का पक्ष लेने के कारण रामदेव जी को कालेज से निष्कासित किया गया था। कालेज से प्रमाण-पत्र लेकर रामदेव जी बाहर आए। आज उनकी अवस्था ऐसी थी ''धोबी का कुत्ता घर का न घाट का'' **इतो भ्रष्टः ततो भ्रष्टः**'' न तो घर का आश्रय रहा, न कालेज का। जायें तो जाये कहाँ। जब इधर-उधर भटककर सांयकाल लाहौर शहर के गोल बाग के एक पेड़ तले जा बैठे। धुणाक्षर न्याय से सामने की सड़क पर आते जाते जन समूह में से रामदेव जी

के एक मित्र ने इन्हें चिन्तित अवस्था में बैठे देख लिया। पूरा विवरण जानकर उनको अपने घर ले गया। यह समाचार चार दिन में ही जालंधर में महात्मा मुशीराम जी को मिला-

सच्चे धर्म पिता की गोद में :-

वे तुरन्त दूसरी गाड़ी से लाहौर में जाकर उस मित्र के घर पर पहुँच गये और रामदेव जी को छाती से लगाकर कहा-रामदेव ! आज से तुम मेरे पुत्र हो, घर से निकल जाने की कोई चिन्ता न करो-मैं तुम्हारा पालन पोषण करूँगा। तुम्हें एम0ए0 तक पढाऊँगा। दोनों की ही आंखों से प्रेमाश्रु बह चले। रामदेव जी सोच रहे थे यह कैसी महान् आत्मा है। सचमुच एक नवीन पिता प्राप्त कर लिया था।

परन्तु जब उनको यह मालूम हुआ कि महात्मा मुशीराम जी ने वकालत छोड़कर सारा जीवन सामाजिक कार्यों में समर्पित कर दिया है, उनसे आर्थिक सहायता लेना भी स्वीकार न किया। महात्मा जी ने उनको आर्य पत्रिका के सम्पादकीय विभाग में काम दिला दिया। रामदेव जी के पिता जी भी पसीज उठे। उन्होंने घर पर बुलावा भेजा परन्तु दृढ़प्रतिज्ञ रामदेव ने घर जाने से सर्वथा इन्कार कर दिया। अपनी शिक्षा तथा ट्रेनिंग समाप्त कर आप जालंधर छावनी के विक्टर हाई स्कूल के हैडमास्टर नियुक्त हुए।

महात्मा मुंशीराम जी ने अथक परिश्रम कर और अपना तन, मन, तथा धन और अपना सर्वस्व अर्पण कर गुरुकुल कांगडी की स्थापना हरिद्वार गंगा पार चंडी रेंज में गंगा के मधुर टापू में कर दी थी। पठन-पाठन के लिए संस्कृत के दिग्गज धुरंधर विद्वान् भी जुटा लिये थे परन्तु अत्यन्त दूरदर्शी महात्मा जी का आदर्श कुछ और ही था। वे कहा करते थे कि मैं तो तप और ब्रह्मचर्य की भट्टी में तपाकर, सभ्य, सुशिक्षित, सदाचारी, धर्मात्मा देशभक्त, नागरिक पैदा करना चाहता हूँ इसलिए इन ब्रह्मचारियों की सर्वतोमुखी उन्नति के लिए ज्ञान, विज्ञान, कृषि, इतिहास, भूगोल, खगोल, गणित, चित्रकला, तथा दस्तकारी की भी शिक्षा देना परम आवश्यक है। पंडित मंडली तो इस विचारधारा का विरोध ही करती रही परन्तु दृढ़संकल्प वाले महात्मा मुंशीराम जी तुरन्त जालन्धर जा पहुँचे। सच है हीरे की पहिचान तो केवल सच्चा पारखी जौहरी ही कर सकता है। बरसों से म. मुंशीराम जी की दृष्टि रामदेव जी पर जमी हुई थी। आज समय आ पहुँचा। हैडमास्टर रामदेवजी को बुलाकर समझाया। देश की पतनावस्था का चित्र खींचा और ब्रह्मचारियों को आदर्श देशभक्त नागरिक बनाने के लिए आपको गुरुकुल में चलने की प्रेरणा प्रदान की। उस समय रामदेव जी के पास अनेक बड़े 2 पदों पर नियुक्ति की मांग आ रही थीं परन्तु आपतकालीन पूर्व उदारता ने सब प्रकार के प्रलोभनों को लात मार कर अपना सम्पूर्ण जीवन निर्वाहमात्र लेकर अपने धर्म पिता के चरणों में समर्पित कर दिया। आप गुरुकुल में आ विराजे और फिर सम्पूर्ण शक्ति लगाकर गुरुकुल की सर्वतोमुखी उन्नति में रत हो गये। यह बात किसी भी भारतवासी से तथा सम्पूर्ण संसार के शिक्षाशास्त्रियों से छिपी नहीं है। आप गुरुकुल से एक मासिक पत्र अंग्रेजी में ''वैदिक मैगजीन'' निकालते थे। उसमें वैदिक-साहित्य तथा प्राचीन गुरुकुल शिक्षा प्रणाली के सजीव लेखों ने देश विदेश की यूनिवर्सिटियों में तहलका मचा दिया। अनेक विदेशी शिक्षाशास्त्री गुरुकुल को देखने समझने आने लगे। परन्तु परमात्मा इस सच्चे ब्राह्मण की कडी अग्नि परीक्षा लेना चाहता था। आप एक मामूली से फूंस की झोपडी में रहते थे-एक दिन परिवार गृह में छप्पर ने आग पकड़ ली। देखते ही देखते आग ने दसियों घर जला दिये। ब्राह्मण का धन तो पुस्तकें ही होती हैं, धांय 2 कर झोंपडी में रखी सैकड़ों विदेशी विद्वानों की पुस्तकें जिनका मूल्य हजारों रु0 था जलनें लगी, सुख-दुःख में समावस्था में रहने वाले प्रोफेसर रामदेव जी थोड़ी दूर निष्काम भाव से उस अग्नि कांड को टुकर टुकर

देख रहे हैं। साथ में मन्द-मन्द मुस्कान भी करते थे। साथियों ने पूछा प्रोफेसर जी! क्या सोच रहे है? प्रोफेसर रामदेव जी ने भी गंभीरतापूर्वक शान्त भाव से उत्तर दिया-यह देखो पाश्चात्य सभ्यता की होली जल रही है। ठीक ही तो है। वे सुख-दुःख में समरूप ही रहते थे। अगली परीक्षा तो और भी कड़ी हुई। महात्मा मुंशीराम जी संन्यास ग्रहण कर श्रद्धानन्द बन गए और गुरुकुल का समस्त भार अपने धर्मपुत्र प्रो0 रामदेव जी पर छोड़ गए। दिल्ली में वे सामाजिक कार्यो में लग गये। प्रकृति प्रकोप से सन् 1924 ई0 में गंगा की भंयकर बाढ़ में गुरुकुल कांगडी के सारे कच्चे मकान, परिवार-गृह, विद्यालय तथा कालेज के छात्रावास, गोशाला, प्रेस भंडार, वस्तुभंडार, गंगा के पेट में समा गए। **"हा! हन्त हन्त-नलिनीं गज उज्जहार"** केवल दो चार मकान पक्के और दुमंजिले शेष रह गए, परन्तु क्षतिग्रस्त वे भी हो गये। अब गुरुकुल को पुनः बसाने का सर्वसम्मति से गंगा के इस पार गंगनहर के बायीं ओर कनखल ज्वालापुर रोड़ पर प्रयत्न किया जाने लगा। परन्तु अकेले कर्मवीर प्रो0 रामदेव जी ने भारत के सब पत्रों में गुरुकुल शिक्षा प्रणाली की विशेषताओं को दर्शाते हुए एक विस्तृत लेखमाला निकाली। दूसरा सारे भारत का दौरा कर लाखों रु0 चन्दा एकत्रित कर गुरुकुल का पुनः निर्माण किया। सब स्थानों पर अपमान को अमृत समान जानकर, मान और सम्मान को विष समान मानकर दूर ही रहे। यही तो सच्चे ब्राह्मण की पहिचान है। आप बम्बई, कलकत्ता, वर्मा, मद्रास इत्यादि पूर्व से पश्चिम तक, दक्षिण से उत्तर तक चंदे के लिए गए। आप सब आज जो इस पवित्र भूमि पर करोड़ों रू0 के सैकडों भव्य भवन देख रहे हैं, इनमें 80 प्रतिशत से भी अधिक प्रो0 रामदेव जी के लाए हुए चन्दे से बने हैं। गुरुकुल पुस्तकालय में 1 लाख से भी अधिक पुस्तकें थीं। आपने सबकी सब पुस्तकें पढ़ छोडी थीं और अक्षरशः कंठाग्र भी कर ली थी। आइये, पाठकवृंद, आप ऐसी अत्यन्त मनोरंजक तथा आश्चर्यभरी एक घटना पढ़िये-

एक दिन गुरुकुल का भारतभर में ख्याति प्राप्त हाकी दल, रामपुर स्टेट से चार फुट ऊँचा "हाकी टूर्नामेंट का बड़ा कप दसियों टीमों को पराजित कर फाइनल में जीत कर लाया। गुरुकुल में उनका बैंड बाजों के साथ जलूस निकाल कर भव्य स्वागत हुआ। दूसरे दिन स्वागत समारोह की सभा हुई। सभापति पद पर आचार्य रामदेव जी को बैठाया गया। सम्पूर्ण समारोह के उपरान्त सभापति का भाषण पूरे 1 घंटे तक हुआ। प्रोफेसर जी ने हाकी के इतिहास के साथ पुराने खिलाडियों के नाम पिछले बीसियों वर्षो के टूर्नामेंटों के वर्णन तिथि के अनुसार, मैदान की रचना सम्पूर्ण नियमों का विशद तथा विस्तार में वर्णन ऐसा किया कि उस समय ऐसा प्रतीत होता था कि हाकी का विश्व विजयी ध्यानचन्द ही खड़ा व्याख्यान दे रहा है। श्रोता सब आश्चर्यचकित थे। सभा के अनन्तर खिलाड़ियों ने प्रोफेसर जी से पूछा कि आप तो हाकी पकडना भी नहीं जानते परन्तु इतना सूक्ष्म विवेचन आपने कैसे किया- प्रोफेसर जी ने मुस्कराते हुए गंभीरता से उत्तर दिया-रात में ही मैने पुस्तकालय से "इनसाईकलोपीड़िया" इत्यादि के बीसियों ग्रंथ मंगाकर हाकी साहित्य का अनुशीलन किया और आज के व्याख्यान में उसका विस्तार से अक्षरशः वर्णन भी किया। इस से आप उनकी स्मृति-शक्ति का अनुमान लगा सकते हैं।

प्रो0 रामदेव जी सूझ-बूझ के कितने धनी थे-साथ ही प्रत्युत्पन्नमति भी थे इसकी भी एक कथा संक्षेप में सुनिये-अन्य एक घटना सत्याग्रह के दिनों की भी पढिये-

गांधी जी का सत्याग्रह जोरों पर चल रहा था, साथ ही सरकारी दमनचक्र भी प्रबल गति से उसे कुचलने का प्रयत्न कर रहा था। स्थान स्थान पर 144 धारा मार्शल ला, निषेधाज्ञाएं प्रचलित थी। अनेक कांग्रेस की संस्थाओं को भी गैरकानूनी करार दिया हुआ था-

सी.आई.डी. की रिपोर्ट पर लखनऊ से मेरठ कमिश्नर को आदेश मिला-गुरुकुल कांगडी में गारद ले जाकर राष्ट्रीय ध्वज को उतार कर उस स्थान पर ''यूनियन जैक'' को फहरादो; पुस्तकालय की तलाशी लेकर जब्तशुदा साहित्य बरामद कर अदालत में केस प्रस्तुत करो। इस काम में यदि बल प्रयोग भी करना पड़े तो निःसंकोच बिना किसी हिचकिचाहट के किया जाए-

देखते ही देखते कमिश्नर साहेब जो एक अंग्रेज के साथ ही अत्यन्त साहित्य प्रेमी विद्वान् थे, बडी फोर्स के साथ गुरुकुल में आ धमके। जवानों के पास लाठी, अश्रु गैस के गोले तथा अन्य आग्नेय अस्त्र पर्याप्त मात्रा में थे।

शिष्टाचार के नाते गुरुकुल से बाहर ही फोर्स को खड़ाकर अपने आगमन की सूचना कारण सहित आचार्य जी के पास भिजवा दी-देखिये, प्रो0 रामदेवजी की सूझ-बूझ। वे तुरन्त कमिश्नर के पास आए। हाथ मिला कर साहित्यिक चर्चा प्रारम्भ कर दी। फिर क्या था-खड़े ही खड़े दो घंटे तक दोनों दिवाने इतने तल्लीन हो गये और विद्वान् कमिश्नर साहेब भी प्रोफेसर जी की अगाध विद्वत्ता पर इतने मुग्ध हुए कि अपना कर्तव्य भी भूल से गए। बाद में याद आने पर अपने पी.ए. को पुस्तकालय में भेजा। इतने में जप्तशुदा साहित्य तो वहाँ से हटाया ही जा चुका था-अतः उसने रिपोर्ट दी सब ठीक है। इधर बड़े ब्रह्मचारी राष्ट्रीय ध्वज को घेरे में लेकर और यह शपथ लिए थे कि आज कट मर भले ही जायेंगे पर राष्ट्रीय ध्वज के स्थान पर यूनियन जैक कभी नहीं फहराने देंगें। समस्या विकट थी। जब कमिश्नर साहेब ने प्रोफेसर जी से राष्ट्रीय ध्वज का प्रसंग छेड़ा तो प्रोफेसर रामदेव जी मुस्कराकर बोले-यहाँ तो जंगल में हम सरस्वती की आराधना में रत हैं। यह ध्वज तो बच्चों का खेल ही समझिए, यहाँ जंगल में बगावत का क्या काम-उनके इस प्रकार के उत्तर से अत्यन्त प्रभावित कमिश्नर भी मुस्करा दिया और ''आलराईट'' कहकर सारी गारद को लौटने का आदेश दिया। स्वयं भी प्रो0 जी से पत्र व्यवहार द्वारा मिलते रहें ऐसा कहकर और हाथ मिलाकर वापस मेरठ चले गये। इस प्रकार उस समय एक भयंकर खून खराबे के प्रसंग को आनन फानन में समाप्त कर दिया। स्त्री-शिक्षा के प्रबल पोषक होने के कारण ही कन्या गुरुकुल देहरादून की स्थापना कर उसके लिए भी चन्दा करते रहे। गुरुकुल की सेवा से निवृत्त होकर स्वास्थ्य न रहने पर भी कन्या गुरुकुल में ही रह कर उसकी सर्वतोमुखी उन्नति करते रहे। परिवार की भी चिन्ता न की। आचार्य रामदेवजी ने आर्य समाज, गुरुकुल तथा कन्या गुरुकुल देहरादून पर अपना सब कुछ वार दिया। उक्त संस्थाओं से उनको अनन्त प्रेम था। ऐसा प्रेम विरले ही पुरुषों में होता है। उनकी गणना आर्य समाज के इने गिने विद्वानों में थी और उन्होंने विदेशों के विद्वानों के समाने आर्य समाज का उज्ज्वल तथा सुन्दर रूप प्रस्तुत किया। उनकी सेवाएं अनगिनत हैं। वे इस सब लघु लेख में प्रस्तुत नहीं की जा सकती। 9 दि0 1939 को उनका लम्बी बिमारी के बाद देहान्त हो गया।

ऐसे महान् तपस्वी सच्चे ब्राह्मण को ही नहीं अपितु ऋषि को हमारा शत शत प्रणाम हो।

।। इति श्रद्धांजलि।।

स्व0 श्री पं0चन्द्रकेतु जी
पूर्व अधिष्ठाता विद्यालय विभाग,
गुरुकुल कांगड़ी, हरिद्वार

अतिथि की 'गोघ्न' संज्ञा

वैदिक धर्म में यज्ञ को श्रेष्ठतम कर्म माना गया है[1]। महत्ता की दृष्टि से देखा जाए तो यज्ञ को इसका मेरुदंड कहना उचित ही प्रतीत होता है। यज्ञ का मूलाधार 'गो'है क्योंकि 'गो' यज्ञ के लिये हवि प्रदान करती है[2]। अर्थात् गो से प्राप्त पदार्थों का ही यज्ञ में उपयोग होता है और यज्ञ में देवताओं के निमित्त इन हवि आदि पदार्थों का त्याग किया जाता है। अत: गो के बिना यज्ञ होना संभव नहीं है। वह स्वयं यज्ञ स्वरूप है। गो व यज्ञ का संबंध आधिभौतिक आधिदैविक और आध्यात्मिक - इन तीनों रूपों में मिलता है जो यज्ञ - तत्व को समझने में सहायक है। इसलिये आर्यो में सदा गो की प्रतिष्ठा और पूजा होती आयी है। वह वन्दनीया एवं पूजनीया है और मातृत्व पद पर अधिष्ठित है 'गो' शब्द का धात्वर्थ 'गति' है और उसके विभिन्न अर्थ हैं। वैदिक साहित्य में उसका प्रतीकात्मक वर्णन भी है।

भारत में अतिथि सत्कार को भी अत्यधिक महत्व दिया गया है। उसे देवता स्वरूप माना गया है।(अतिथि देवोभव) यहाँ तक कि आतिथ्य को यज्ञ का शिरोस्थानीय कहा गया है[3]। आतिथ्य के लिये प्रमुख रूप से 'गो'को प्रयुक्त किया जाता था अर्थात् अतिथि (देवातिथि अग्नि या लौकिक मनुष्यातिथि) सत्कार में पवित्र पशु 'गो' के दुग्धादि पदार्थों का प्रभूत प्रयोग किया जाता था[4]। उसे दान में गो प्रदान की जाती थी। इसी कारण अतिथि को गोघ्न संज्ञा से भी अभिहित किया गया है। इसी 'गोघ्न' शब्द को लेकर कुछ व्यक्तियों का विचार है कि पूर्वकाल में भारत में अतिथि के लिये गोवध हुआ करता था। उनका अभिप्राय: है कि 'दाशगोघ्नौ सम्प्रदाने' (पा0 3/4/73) इस सूत्र से 'गोघ्न' शब्द की सिद्धि होती है। 'गोघ्नोऽतिथि इस प्रसिद्धि से स्पष्ट है कि पूर्वकाल अर्थात् वैदिक काल में अतिथि के लिये गोवध हुआ करता था किन्तु क्या वास्तव में ऐसा होता था अथवा केवल यह भ्रम मात्र है। अत: यह विषय गंभीरता पूर्वक विचारणीय है।

यह ध्यातव्य है कि वेदों में गो को 'अघ्न्या' और वृषभ (सांड या बैल) को 'अघ्न्य' कहा गया है जिसका अर्थ है 'न मारने योग्य[5]। अन्य किसी पशु के लिये ऐसा शब्द नहीं आया है। यदि वेदों में 'गोघ्न' शब्द से गाय का मारना' इष्ट हो तो उसका 'अघ्न्या' शब्द के साथ वेदादि शास्त्रों में परस्पर वदतो व्याघात दोष आ जायेगा। अत: 'गोघ्न' शब्द से उक्त अर्थ विवक्षित नहीं है।

ऋग्वेदादि में सर्वत्र स्पष्ट शब्दों में गोहत्या का निषेध है। उसमें 'अघ्न्या' एवं 'अदिति'[6] ये दोनों विशेषण (जिनका प्रयोग हुआ है। गो की अवध्यता को सूचित करते हैं[7]। महाभारत में भी गोवध को 'अघ्न्या' शब्द से ही अवैदिक सिद्ध किया गया है[8]। गो को अघ्न्या की तरह ही वेदों में अभक्षणीया भी कहा गया है[9]। वास्तविकता यह है अघ्न्या (गो) को तो नष्ट करने वाले का सिर काटने की व्यवस्था दी गयी है[10]। इससे स्पष्ट है कि वेदों में गोवध दंडनीय अपराध है और ऐसा करना निषिद्ध व अविहित कर्म माना गया है।

वेदों में यज्ञार्थ गो से प्राप्त अन्नों का अत्यधिक रूप से वर्णन मिलता है। गो प्रदत्त दुग्धादि अन्न को एक मंत्र में महाधन कहा गया है[11]। 'गो' दो प्रकार से अन्न प्रदान करती है। प्रथमत: दुग्धआदि के रूप में और द्वितीय कृषि कर्म में सहायक बनकर दुग्धादि पदार्थ व कृषि जन्यधानों को ही क्रमश: 'वशान्न' (दुधारू गाय द्वारा प्राप्त अन्न) और उक्षान्न कहा गया है[12]। अन्न प्रदात्री होने से ही गो को 'अन्न' भी कहा गया है[13] और उसकी एक संज्ञा 'इळा' भी है[14]। इळाको भी अन्न कहा गया है[15]।

इळा पृथ्वी का भी पर्यायवाची है[16] और भूमि को गो भी कहा जाता है। ऋग्वेद के एक मन्त्र में गो के समान माता पृथिवी को भक्षण करने (अश्भोजने) का उल्लेख मिलता है[17]। इससे स्पष्ट है कि जैसे पृथ्वी का भक्षण उस पर उत्पन्न अन्न, फलादि खाने को कहा जा सकता है वैसे ही गो का भक्षण उससे प्राप्त दुग्ध घृतादि खाने के रूप में होगा। गो-मांस के रूप में नहीं।

'गोघ्न' शब्द दो शब्दों का संयुक्त रूप है अर्थात् 'गो' और 'घ्न'। सामान्यत: 'गो' का अर्थ है 'गाय' और 'घ्न' का अर्थ है मारना किंतु वेदों में गो का अघ्न्या नाम प्रयुक्त होने के कारण गो के प्रसंग में हन् धातु का अर्थ हिंसा करना उचित नहीं है। उसके (हन्) अन्य अर्थ गति, ज्ञान, गमन और प्राप्ति अर्थ ही इस प्रसंग में उपयुक्त हो सकते हैं। महर्षि पाणिनि ने भी दाशगोघ्नौ सम्प्रदाने सूत्र द्वारा अतिथि के लिये गो प्रदान करना' 'गाव: हन्यन्ते प्राप्यन्ते यस्मै स: गोघ्नोऽतिथि: अर्थ को ही प्रामाणिक माना है अर्थात् जिस विद्वान् श्रोत्रिय अतिथि को सम्मान हेतु गो का दान किया जाये। उक्त सूत्र में सम्प्रदान शब्द का पाठ इसलिये है कि अतिथि के लिये गो का स्वत्व निवृत्तिपूर्वक दान किया जाये। अन्यथा दाशगोघ्नौ तस्मै इतना ही पाठ पाणिनि पढ़ सकते थे।

प. सातवलेकर जी ने गोघ्न' का अर्थ हस्तघ्न की तरह 'गोरक्षक' किया है। गोघ्न की तरह हस्तघ्न' पद भी वेदमंत्रों में आता है। धनुष की डोरी का आघात हाथ पर न हो इसलिये बांये हाथ पर गोधाचर्म का वेष्टन वीर क्षत्रिय करते थे। इसका नाम हस्तघ्न है। जैसा 'हस्तघ्न' पद है, वैसा ही 'गोघ्न' पद है जिसका अर्थ 'गो का रक्षक' है[18], गोघातक नहीं, इसलिए उक्त पद के अनुसार गो को मारने का विचार भी नहीं आ सकता।

शब्द के साथ उसके अर्थ को और अर्थ की अभिव्यक्ति हेतु शब्द को समझना ही एक औचित्यपूर्ण धर्म है। वेदों में गो-वध क्या किसी पशु-हिंसा की बात सोचना भी उचित नहीं है। वैदिक विचार धारा में यज्ञ को अति महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है। यज्ञ के लिए वेदों में 'अध्वर' शब्द का प्रयोग अनेक स्थानों पर हुआ है। इस शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए आचार्य यास्क ने निरुक्त में लिखा है-**'अध्वर इति यज्ञ नाम, ध्वरति हिंसा कर्मा तत्प्रतिषेध:'** अर्थात् अध्वर का अर्थ है- हिंसा रहित कर्म। अत: यज्ञ में पशुवध होने से अध्वर शब्द सार्थक नहीं हो सकता। वास्तव में यज्ञ के प्रकरण में पशु शब्द से संबंधित जितने भी नाम हैं, उनका अभिप्राय अन्न से ही है, पशु से नहीं। अन्नमय पशु के होम करने ही का विधान है वेदों में तो पशु मात्र की रक्षा के लिए स्पष्ट निर्देश है-**"पशून् पाहि"**, **"पशूंस्त्रायस्व"**, **"द्विपादव चतुष्पात्, पाहि"** यजु0।। यह भी उल्लेखनीय है कि पशु-रक्षा सम्बन्धी मंत्रों के साथ-साथ ऐसे मंत्रों का भी अनेक जगह उल्लेख है, जिनमें पशु हिंसा का निषेध किया गया है यथा- **"गां मा हिंसीरदितिं विराजम्"**, **"इमं मा हिंसीर्द्विपादं पशुम्"** (यज्ञ:), अत: स्पष्ट है कि वेदों में हिंसा का उल्लेख नहीं है।

ध्यान रहे कि गो ही मुख्य रूप से हवि प्रदान करती है। अतएव गौओं को 'हव्यसूद': (हव्य निष्पादिका) कहा गया है[19]। हविभक्षण करने के कारण अग्नि को 'हव्यात्' कहा गया है। यज्ञ में केवल 'हव्यात्' अग्नि ही प्रयुक्त होती है। शव जलाने वाली 'क्रव्याद्' और मांस भक्षी 'आमाद्' अग्नियों को यज्ञ से पृथक् रखा जाता है। अग्नि को यज्ञ में वशा और उक्षा द्वारा आहूत किया जाता है[20] और उक्षान्न(धान) और वशान्न (दुग्धादि) ही यज्ञ में ग्राह्य है[21]। अत: इन्हें क्रमश: भक्षणीय एवं अभिलषणीय अन्न कहा गया है।

वस्तुत: 'गोघ्न' शब्द अतिथि-पूजा का अर्थवाद है। यदि 'हन्' धातु से 'हिंसा' ही का भाव लेना हो तो अर्थवाद से उसका तात्पर्य ही लिया जाएगा, क्योंकि अर्थवाद का तात्पर्य वास्तविक हिंसा से न होकर एक उच्च की अप्रतिष्ठा तथा दूसरे निम्न को उत्कृष्टतर बनाने में हुआ करता है। इस रूप में 'पूजनीया' गो की प्रतिष्ठा हीन हो जाती है। अतिथि की उपस्थिति में यह उसका अपमान है और यही अप्रतिष्ठा एक प्रकार से उसका 'हनन' (मरण) है[22] क्योंकि 'गो' तो पूजनीया है ही, किन्तु अतिथि उससे भी अधिक पूज्य है। उसके सम्मान (आदर-सत्कार) से 'गो' का महत्व कम हो जाता है। और इस अप्रतिष्ठा (अपमान) का कारण अतिथि होता है, इसीलिए अतिथि को 'गोघ्न' कहा गया है। मधुपर्क में भी दधि, मधु, घृत, जल और मिश्री इन पांचों का ही मिश्रण होता है। मांस का नही। समांस मधुपर्क का प्रयोग नहीं होता था।

अत: वेदादि में 'गोघ्न:' उस अतिथि को कहा गया है, जिसके आने पर उसका आदर-सत्कार (सेवा शुश्रूषा) दुग्धादि, जल एवं मधुरवाणी से किया गया है, क्योंकि 'गो' के विभिन्न अर्थो में 'दुग्ध '(दूध) 'आप' (पानी) और 'वाणी' (मधुर) भी समाविष्ट हैं।

संदर्भः –

(1) यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म शतपथ ब्राह्मण 1/5/4/5 तथा यजुर्वेद वाजसनेयी संहिता- 1/1!
(2) अत: गो का एक विशलेषण अथर्ववेद में 'यज्ञपदी' प्रयुक्त हुआ है। (अथर्व 10/10/6)
(3) शतपथ ब्राह्मण 3/3/2/1
(4) इसलिये ऋग्वेद में गो का एक विशलेषण 'अतिथिनी' भी प्रयुक्त हुआ है। (ऋग्वेद 10/68/3) विशेषण से भी इस तथ्य की पुष्टि होती है। (5) ऋग्वेद में प्रयुक्त गौ के लिए 'अघ्वर्या (10.98.3) विशेषण से भी इस तथ्य की पुष्टि होती है। (6) ऋग्वेद 8/101/15/ (7) गो का पर्यायवाची नाम 'अही' है। यह पद अ पूर्वक हन् धातु से व्युत्पन्न है। और इस रूप में गौ की अवध्यता को प्रकट करता है। (8) महाभारत शांतिपर्व 262/47 (9) अथर्ववेद 5/18/3 (10) ऋग्वेद 10/87/16/ यजुर्वेद में भी गोघातक को मृत्युदंड देने की व्यवस्था है। (अन्तकायगोघातम्) यजुर्वेद वाज0 सं. 30/18) (11) ऋग्वेद महोराय: 8/23/29 इस मंत्र में गोमतीरिष: का तात्पर्य दुग्धधृतादि पदार्थो से है। (12) ऋग्वेद 8/43/11 (13) अन्नं वै गो:- तैत्तिरीय ब्राह्मण 3/9/8/3 अन्नं हि गो: शतपथ ब्राह्मण 4/3/4/25 (14) निरुक्त 2/11 (15) ऐतरेय ब्राह्मण 8//26 (16) इट्रूप अन्न का आधार होने से ही गो एवं पृथ्वी को इळा कहा जाता है। (17)ऋग्वेद 10/176/1 (18) तर्क से वेद का अर्थ पृ0 61 (19) ऋग्वेद 1/93/12, 4/50/5, 1/187/11 (20) ऋग्वेद 2/7/5 (21) ऋग्वेद 8/43/11 जहाँ मातृत्व की दृष्टि से गो को अघ्न्या कहकर उसकी हिंसा का निषेध किया गया है वहाँ यह भी बताया गया है कि गो का परिपक्व भाग होने से दुग्ध घृतादि (वशान्न) ही खाद्य है और यज्ञ में उपयोग किये जाने योग्य है। गो का अपरिपक्व भाग मांस अभक्षणीय माना गया है। (22) अतिथि गाय की अपेक्षा अत्यंत कम होता हुआ भी अपने सत्कार के समय में उत्कृष्ट गाय को अपनी अपेक्षा निम्नतर बनवाकर सम्भावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते (भगवद्गीता 2/34 आदृत की अपकीर्ति उसकी मृत्युकारक होती है। गोघ्नोऽतिथि: नाम से कहा जाता है।

वेद प्रकाश गर्ग,
14, खटीकान, मुजफ्फरनगर (उ.प्र.) 251002

वैदिक अनुसन्धानपरम्परा विवेचनम्

आद्युदात्तो ग्रन्थराशिवाचकः, ज्ञानावाप्तिविचार सत्तार्थवतो विदधातोर्घञ् प्रत्यये कृते सिद्धः वेदशब्द स्यार्थो ज्ञानं वेदयिता, पुरुषार्थान् वेदयिता अभ्युदयनिःश्रेयसप्रापयिता – इत्येवंविधा भवन्ति।[1] वेदवाचका अनेके यौगिकाः शब्दाः निर्वचनेन वेदस्य वैशिष्ट्यं बोधयन्तिः – यथा अनुश्रूयतेत्यनुश्रवः, गुरोरन्वध्ययनादन्वध्यायः, ज्ञानस्यागमागमः, अभ्यसनादाम्नायः, सुखैराच्छादनत्वाच्छन्दनत्वाच्छन्दः, ज्ञान क्रमोपासनाविषयभेदाद् गद्यपद्यगानरचना भेदात् त्रयी[2], सत्यविद्यानिगमन्नानिगमः, ज्ञानापेक्षेया बृंहणत्वाद् ब्रह्म, गुप्तमंत्रणान्मन्त्रः, श्रूयत इति श्रुतिः, सम्यक्हिता धृतेति संहिता, स्वाध्यायात्स्वाध्यायो वेद :– एतादृशस्य वेदस्य अर्थानुसन्धारम्भः कदा बभूव इति सनिश्चयं वक्तुं न शक्यते।

वेदाः खलु सृष्टेरादिग्रन्थाः, आर्याणां संस्कृतेर्मूलस्रोतः, सर्वविद्यानां निदानम्। कामं तेषु देवादिस्तुतिव्याजेन परमात्मनः प्रार्थना तथापि सृष्टेर्जीवनस्य सामाजिक – कर्तव्यानां वैयक्तिकाचाराणां च विषये विचार – चर्चा यत्र तत्र लभ्यते। दर्शनेषु सर्वेषु सृष्टेरुद्भवः कथम् अभवदिति विषयम् अधिकृत्य विस्तृता चर्चा लभ्यते। तस्या बीजान्यपि वेदेषु लक्ष्यन्ते । सृष्टेरादौ यादृशी स्थितिरासीत् तस्या वर्णनं नासदीयसूक्ते –

नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परो यत् ।

किमावरीवः कुह कस्य शर्मन्न् अम्भः किमासीद् गहनं गभीरम् [3]।।

यादृशो जटिलः प्रश्नो विमर्ष्टुः पुरस्ताद् वर्तते तादृश्येव गहना पदरचना प्रश्नस्य गाम्भीर्यं द्योतयत्येव –

न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अह्न आसीत् प्रकेतः।

आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किञ्चनास।।[4]

एषा सदसद्विलक्षणा स्थितिर्न शब्द – सामर्थ्यप्रकाश्या खलु। अत एवोभयमपि निषिद्धम् एव। अतर्कनीयाऽविवेच्याऽवर्णनीया वाऽवस्था वाच्याऽवाच्यविलक्षणैव भवति यस्यां वक्तुर्वागेव प्रतिहता भवति। अत एव तस्या गाम्भीर्यम्।

तम आसीत् तमसा गूढमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्।

तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत् तपसस्तन्महिना जायतैकम्।।[5]

वस्तुतो यदि न सृष्टेः प्राक्किमप्यवर्तत सर्वमेव ततोऽर्वाक्तनम् तर्हि किंमूला किमुपकरणां किंकृता वा इयं सृष्टिरिति विचिकित्सा नैसर्गिक्येव जिज्ञासितुः।

यथा वेदानाम् उद्भवकालस्य नाऽस्त्यद्यऽपि निर्णयः तथैव वेदार्थानुसन्धानस्याऽऽरम्भः कदा बभूवेति न सनिश्चयं वक्तुं शक्यते। यावती पुरातनी वेदानाम् अध्ययनस्य परम्परा तावत्येव वेदार्थानुसन्धानस्याऽपि। नाऽस्ति तस्याः कश्चित् तिथ्यात्मकोऽवधिः तथापि तस्या इतिहासस्तिसृषु श्रेणिषु विभक्तुं शक्यतेः

1. यास्कात् प्राक् 2. यास्कादुत्तरकाले मध्ययुगे 3. वर्तमानयुगे

तृतीयाऽपि भूयो द्विधा विभज्यते- 1. वैदेशिकाः प्रयत्नाः 2. भारतीयाः प्रयत्नाः

यास्कात् प्राक् - ब्राह्मणेषु यत्र तत्र मन्त्राणां व्याख्यानानि विविधशब्दानां च निरुक्तयो लभ्यन्ते। यास्को निरुक्ते गायत्रस्य शक्वर्याश्च निर्वचन-प्रसङ्गे ब्राह्मण-वचनमुदाहरति।[6] गोपथ-ब्राह्मणे हृदयशब्दस्य ओंकारस्य च निर्वचनं लभ्यते। 'यदचरस्तन्वा वावृधान' इत्यादौ मन्त्रे वृत्रशब्दस्य दर्शनात् तस्य निर्वचनं बहुधा शतपथब्राह्मणे लक्ष्यते। ऐतरेयोपनिषदि च इन्द्रशब्दस्य निरुक्तिः साधु प्रमाणयति यथा ब्राह्मणेषूपनिषत्सु च मन्त्राणां व्याख्यान-प्रवृत्तिर्वर्तते।

षड् वेदाङ्गानां प्रणयनस्य किं प्रयोजनम्? शब्दस्वरूपस्य तन्निर्वचनस्य च परिज्ञानं मन्त्राणाम् अर्थानुसन्धानार्थम् एवाऽपेक्ष्यते। छन्दोदैवतादिनिर्णयोऽपि तदर्थ एवं शाकल्य-गार्ग्यप्रभृतिकृताः पदपाठाः, शौनककृताः बृहद्देवता, अनुक्रमणी षड्गुरुशिष्यकृतश्चरणव्यूहस्तस्याम् एवं दिशि प्रयत्नाः यास्केन स्व-निरुक्ते प्राक्तनानां चतुर्दशाचार्याणां मतानि चर्चितानि। यथा-शाकटायनः, गार्ग्यः, कौत्सः, औदुम्बरायणः, और्णवाभः, औपमन्यवः, स्थौलष्ठीविः, तैटीकिः, आग्राणः, शाकपूणिः, गालवः, क्रौष्टुकिः, कात्थक्यः, वार्ष्यायणिः इत्येवं चतुर्दश निरुक्तकारा व्याख्यातारश्चाचार्यास्ततो ज्ञायन्ते। काश्यपकृते नैघण्टुके च यास्ककृतं व्याख्यानम् एव निरुक्तम्। भूयश्च मन्त्रार्थविवेचनप्रसङ्गे यास्केन नैदानाः, याज्ञिकाः, नैरुक्ताः, ऐतिहासिकाः परिव्राजका इत्येवम् अनेके सम्प्रदाया उल्लिखिताः। बौधायनकृतं वेदाङ्गज्योतिषं पिङ्गलकृतं छन्दः सूत्रं च तादृशम् एव प्रयत्नम्।

वस्तुत आदौ वेदव्याख्यानस्याऽपेक्षा नाऽभूद्। यदाह यास्कः-

साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुः तेऽवरेभ्योऽसाक्षात्कृतधर्मभ्य उपदेशेन मन्त्रान्त्संप्रादुः। उपदेशाय ग्लायन्तोऽवरे बिल्मग्रहणायेमं ग्रन्थं समाम्नासिषुः वेदं च वेदाङ्गानि च।[7]

उत्तरकाले तु यदा जना न प्रणिधानेन वेदान् तदर्थं वा साक्षात्कर्तुं प्राभवन् तदैव पुस्तकानां तद्व्याख्यानानां च अपेक्षा अन्वभूयतः महाभारतादिग्रन्थेभ्यो ज्ञायते यथा न तदाआचार्याशं छात्रान् ग्रन्थानपीपठन् अपि तु विनयेन तान् शुद्धमनसो ध्यानक्षमान् समाचरन्। पश्चाच्च 'वेदाः सर्वाणि शास्त्राणि च वः प्रतिभासन्ताम' इत्याशिषः प्रायच्छन् यासां प्रभावात् संस्कारशुद्धे मनोमुकुरे स्वयं विद्याः प्रत्यभासन्त। पाणिन्यादीनाम् एतादृश एवेतिहासः, अतो न प्राचीना व्याख्याग्रन्था अद्यतना इवाऽभवन्।

ब्रह्माण्डपुराणे पदपाठकृतामेवं परिगणनम्[8] -

शाकल्यः प्रथमस्तेषां तस्मादन्यो रथीतरः, बाष्कलिश्च भरद्वाज इति शाखाप्रवर्तकाः।
देवमित्रश्च शाकल्यो ज्ञानाहंकारगर्वितः, जनकस्य स यज्ञे वै विनाशामगमद् द्विजः।

रावणकृतस्यापि ऋग्वेदीयपदपाठस्य भाष्यस्य च चर्चा श्रूयते।

शुक्लयजुर्वेदस्य पदपाठानां रचयितारो न ज्ञायन्ते। तैत्तिरीयसंहितायाः पदपाठकारस्तु भट्टभास्करस्य '**उखश्चात्रेयाय ददौ येन पदविभागश्चक्रे**' इत्युक्तेर आत्रेयो ज्ञायते।[9] सामवेदस्य पदकारस्तु गार्ग्यो यस्योल्लेखो यास्कस्य निरुक्ते लक्ष्यते। अथर्ववेदस्य पदकारस्तु न नाम्ना ज्ञायते।

यास्कादुत्तरकाले- यास्कादुत्तरकाले पाणिनिना स्वव्याकरणे वैदिकशब्दानां व्युत्पत्तिः स्वर-प्रकारश्च

समासेन निर्दिष्टाः। तदुत्तरं माधवभट्टः, स्कन्दस्वामी, नारायणः, उद्गीथः, वेङ्कटमाधवः, आनन्दतीर्थः, सायणश्च विद्वांस आचार्या ऋग्वेदव्याख्यानानि चक्रुः। पश्चाच्च मुद्गलनामाऽऽचार्यः सायणभाष्यस्य संक्षेपं मुद्गलभाष्यसंज्ञायाऽकरोत्। भवस्वामी, गुरुदेवः, क्षुरः, भट्टभास्करमिश्रश्च तैत्तिरीयसंहितायाः, उव्वट-महीधरौ माध्यन्दिनसंहितायाः, माधवः, भरतस्वामी, गुणविष्णुश्च सामसंहिताया भाष्यकृतः सायणकृतानि भाष्याणि तु पञ्चवैदिकसंहितासु, एकादशब्राह्मणेषु तथा चाऽऽरणयकद्वये लभ्यन्ते।

आधुनिके युगे – कामं पतञ्जलिना उद्घोषयत् '**ब्राह्मणेन निष्कारणं षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्चेति**' परं द्विजाः प्रायेण वेदाङ्गेषु शास्त्रान्तरेषु च श्रमं समाचरन्तो वेदानाम् अध्ययनं व्यस्मरन्नेव। ये केचन च परम्परावशाद् न तांस्तत्यजुस्तेऽपि केचिदेकमेवाऽपरे वेदद्वयमन्ये च तत्त्रिकमेवाऽपठन्। केचिदेव तेषां वेदचतुष्टयमध्यैयत। अत एव तेषां द्विवेदिस्त्रिवेदिश्तुर्वेदीति व्यपदेशाः प्राचलन्। एतेऽपि भूयसा वंश तमितिहासमेव संज्ञाभिराभिः प्राकाशयन्।

वैदेशिकाः प्रयत्ना – आधुनिके युगे वेदार्थानुसंधाने भूयिष्ठः प्रयत्नो वैदेशिकैर्विहित इति निस्संकोचं कथयितुं शक्यते। तेषामुद्यमेनाऽनेके लुप्तप्राया वैदिका ग्रन्था अस्माकं सुलभा अजायन्तेति सर्वथा ते धन्यवादार्हा एव। भवतु काऽपि तेषां भावना वेदाऽध्ययने अस्तु वा वैमत्यं तत्कृतेषु पर्यालोचनेषु परं तत्कृतं कार्यं नितरामुपादेयं वेदानुशीलिनां पथः प्रस्तारकमिति वक्तुं शक्यते। वैदेशिक वेदाध्यायिनामपि तिस्रः श्रेणयो लक्ष्यन्ते –

1. **सायणानुगामिनी –** इयं श्रेणिः सायणकृतं भाष्यं प्रामाणिकं मन्वाना तस्यानुवादेनाऽऽश्रयणेन च वेदाऽध्ययनं वेदेषु प्राचीचरत्। अस्याः परम्पराया मुख्यों लेखकः डा० विल्सनमहोदयः (J.H.Wilson) येन 1850 ख्रीष्टाब्दे सायणभाष्यमनुसृत्य ऋग्वेद आंग्लभाषायामनूदितः। पश्चाच्च ग्रिफिथसंज्ञेन (R.TH Griffith) विदुषा 1889-92 वर्षेषु ऋग्वेदस्यैव सटिप्पणः पद्यबद्धोऽनुवाद आंग्लभाषायां प्रस्तुतः। 1849-1875 वर्षेषु मोक्षमूलर (Max Mullar) महाभागेन सायणकृतम् ऋग्वेदभाष्यं सम्पाद्य प्रकाशितम्। पुनश्च 'प्राचीन वैदिकसंस्कृतसाहित्य' नामके ग्रन्थे वैदिकग्रन्थानां वैदुष्यपूर्णा मीमांसा प्रकाशिता। ततश्च स्वकीयायां 'पवित्रप्राच्यग्रन्थाः (Sacred Book of the East) इति संज्ञया प्रकाशितायां ग्रन्थमालायां वैदिकग्रन्थानां स्वकृताः परकृताश्चाऽनुवादाः प्रकाशिताः।

2. **वैज्ञानिकी – अपरा व्याख्या –** परम्परा तु नव्यवैयाकरणानां (Young Grammerians) येषां नेता रोडाल्फ राथ (Rodalf Roth) महाशयोऽभूत्। एतैः खलु सायणादि-प्राचीनाचार्याणां भाष्याणि वेदार्थाऽस्पृन्शीति कृतत्वोपेक्षितानि स्वयं च तुलनात्मकभाषाशास्त्रस्य मानवेतिहासस्य च साहाय्येन ऋग्वेदस्याऽर्थानुसंधानं कृतम्। अस्य प्रयत्नस्य महाविज्ञापकः 'सैन्टपीटर्सबर्गडिक्शनरी' संज्ञया प्रकाशितो महाकोषः, यत्र संस्कृतशब्दानां वेदेभ्य आरभ्याऽद्यावधि लौकिकसंस्कृते जातोऽर्थविकासः क्रमशः प्रदर्शितः तत्तत्स्थलीया अंशाश्चोद्धृताः। लौकिकशब्दानां संग्रहस्तत्र बोटलिङ्महाशयेनाऽनुष्ठितः। ओल्डनबर्ग ग्रासमान-ब्लूमफील्डप्रभृतिभिरनेकैर्विद्वद्भिरनयैव दिशा वर्तितम्।

3. **मध्यमार्गानुसारिणी –** अपरे केचित् पाश्चात्याविद्वांसः प्राच्यपरम्परागतां नव्यसरणिं चाऽनुसृत्य वेदव्याख्यानानि प्रकाशितवन्तः। तेषु लुडविग-गेल्डनर-पीटर्सनसदृशा उल्लेखनीयाः सन्ति।[10]

एतैः पाश्चात्यैर्वेदार्थानुसंधानप्रसंगेनाऽन्यान्यपि महान्ति कार्याण्यनुष्टितानि। प्रो० ब्लूमफील्डमहाशयेन

डा0 गार्वेमहाभागेन च काश्मीरेषु लब्धस्य अथर्ववेदीयपैप्पलादशाखाया अतिजीर्णपुस्तकस्य छायाचित्रं गृहीत्वा भागत्रये 1109 खीष्टाब्दे सा शाखा जर्मनिदेशात् प्राकाश्यमानतेत्यहो तयोर्महानध्यवसाय:।

एतैरेव वैदेशिकैरनेके ब्राह्मणग्रन्था येषां केचिद् भारते सर्वथा दुर्लभा एव, स्व-स्वदेशेभ्य: सम्पाद्य प्रथमवारं प्रकाशिता:। यथा हाग (M.Haug) महाशयस्य सानुवादम् ऐतरेयब्राह्मणस्य संस्करणम् प्रो0 निण्डनर (B.Lindner) महाशयस्य च कौषीतकिब्राह्मणसंस्करणं डा0 वेबरसम्पादित शतपथब्राह्मणम्, तत्सम्पादितम् अनूदितं च अद्भुतब्राह्मणं वंशब्राह्मणं चैतस्य निदर्शनानि। डा0 बर्नेल महाभागेन (H.C. Burnell) अनेकानि सामवेदीयानि ब्राह्मणानि प्रकाशितानि येषु सामविधानं, वंशब्राह्मणं देवताध्यायब्राह्मणम् आर्षेयं संहितोपनिषच्च उल्लेखनीयानि। जैमिनीयब्राह्मणस्य विशिष्टो भाग आंग्लभाषानुवादेन सह डा0 एर्टल (H. Oertal) विदुषा जर्मनभाषानुवादेन च सह डा0 कैलेण्डविदुषा प्रकाशित:।

ग्रिफिथमहाभागेन यजुर्वेदीयमाध्यन्दिनसंहिताया: सामसंहिताया अथर्वसंहितायाश्चांगलभाषायामनुवाद: प्रस्तुत:। डा0 कीथ महाशयेन च तैत्तिरीयसंहिताया अनुवाद: कृत:। इग्लिंग (D.J. Eggeling) महाशयेन शतपथब्राह्मणस्याऽनुवाद पवित्रप्राच्यग्रन्थमालाया: (Sacred Book of the East) पञ्चपुस्तकेषु प्रकाशित:। डा0 कैलेण्डकृतस्ताण्ड्यमहाब्राह्मणस्यानुवादश्च नानुपेक्षणीय:। आर. अर्नेस्ट ह्यूम (R. Ernest Hume) कृत उपनिषदाम् आंग्लभाषानुवादस्तु विख्यात एव।

एतान् ग्रन्थान् अतिरिच्याऽपि महत् कार्यं वैदेशिका: कृतं वर्तते। यथा डा0 मैक्डानलस्य वैदिकं व्याकरणम् अद्यत्वेऽपूर्वमेव मन्यते। ह्विटने महाशयस्य डा0 वाकरनेगल (J.Wacker Nagel) महाभागस्य च वैदिकं व्याकरणं नितरां महत्त्वपूर्णं। प्रो0 आर्नोल्ड (E.V. Arnold) महाशयेन वैदिकच्छन्दसाम् अध्ययनं 'वैदिक मीटर' (Vedie Meter) संज्ञकग्रन्थे कृतम्। डा0 कीथ-मैक्डानल्डाभ्यां रचितो 'वैदिक इण्डेक्स' (Vedic Index) संज्ञो ग्रन्थ: प्रायेण वैदिकसंस्कृते: कोषएव। मैक्समूलर-मैक्डानलहिलेब्राण्टसंज्ञैर्विद्वद्भिर्वैदिकपुराणगाथा देवताश्च अधिकृत्य अनेके ग्रन्था रचिता:। डा0 कीथ कृत: 'रिलिजन एण्ड फिलासफी आफ वेद एण्ड उपनिषद्' नामको ग्रन्थ: वैदिकधर्मविषयकम् अध्ययनं कुर्वतां नितरां सहाय्यकृत्। केजी (Kaegi) महाशयस्य दि ऋग्वेद (1880) संज्ञो ग्रन्थ ऋग्वेदगतान् विषयान् विमृशति। विण्टरनित्स:, वेबर:, मेक्डानलश्च वैदिकसाहित्यस्येतिहासान् अलिखन्। लुई रेनु (Lui Renow) महाशयस्य वैदिकग्रन्थसूची नवनवानुसन्धानप्रयत्नाश्च नानुल्लेखनीया:।

पाश्चात्यपद्धतिमाश्रित्य भारतेऽपि वेदार्थानुसन्धान- परम्परा प्रचलिताऽभूत्। तस्या अनुगामिन: शङ्करपाण्डुरङ्गपण्डित:, भण्डारकरापाह्वो रामकृष्णगोपाल:, भगवादुपाह्वो राजारामरामकृष्ण:, व.स. घाटे महाशय:, चारुचन्द्रमुखोपाध्याय:, मन्मथनाथदत्त:, सत्यव्रतसामश्रमी, शङ्करबालकृष्णदीक्षित: विशेषेण स्मरणीया भवन्ति। तत्र शङ्करपाण्डुरङ्ग महाभागेन 'वेदार्थयत्न संज्ञया महाराष्ट्र्याम् आंग्लभाषायां च ऋग्वेदव्याख्या प्रकाशयितुमारब्धा परन्तु दैवदुर्विपाकात् सहसैव तस्य निधनाद् यत्नोऽयं तृतीयमण्डलावधिरेवाऽभूत्। दीक्षितमहाभागेन 'भारतीय ज्योतिष' इति ग्रन्थे वेदेषूपलब्धानि ज्योतिषप्रमाणानि आश्रित्य वेदनिर्माणकालो विवेचित:। सत्यव्रतसामश्रमिणा सामवेदसम्बद्धग्रन्थानां प्रकाशनं विहितम्। बालगंगाधरतिलकेन 'ओरायन' एवं 'आर्कटिक होम इन दि वेदाज्' इत्याख्ययोर्ग्रन्थयो: प्रणयनं विहितम्। पूर्वस्मिन् वेदनिर्माणकाल: खीष्टाविर्भावात् चतु:सहस्रवर्षपूर्वं निर्धारित: पाश्चात्यमतानां च संयुक्तिकं प्रत्याख्यानमनुष्ठितम्। अपरस्मिंश्च ध्रुवप्रदेशे पूर्वार्याणां मूलस्थानं निर्णीतम्। घाटे महाशयस्य व्याख्यानानि संक्षेपशो वेदविषये सर्वविधं विवरणं प्रस्तुवन्ति।

भारतीय पद्धति–आर्यसमाजप्रवर्तकेन स्वामिना दयानन्देन स्वपद्धत्या ऋग्वेदस्य विस्तृतं व्याख्यानं कृतम्। तदनुसारिणा पं० जयदेवेन सामवेदस्याथर्ववेदस्य च राजारामपण्डितेनाऽथर्ववेदस्य अनुवादो विहितः। स्वर्वासिन ओझोपाह्वस्य मधुसूदनपण्डितस्य महर्षिकुलवैभवप्रभृतयः पंचविंशतिप्रायाः प्रौढा गन्था वेदार्थोद्घाटनदिशि महारम्भमयाः। तच्छिष्येण स्वर्वासिना मोतीलालगौडेन (मुक्तरक्त शर्मणा) शतपथब्राह्मणे विज्ञानभाष्यं निरमायि। तत्पथप्रदर्शने च स्वर्गतेन डा० वासुदेवशरणेनाऽग्रवालवंशजेन वेदमन्त्राणामध्यात्मदिशाऽपरो व्याख्यामार्गः प्रस्तुतः।

श्री पाददामोदरसातवलेकरमहोदयेन वेदचतुष्टयसंहिताः दैवतसंहिता च स्वाध्यायमण्डलात् प्राकाशयमानीताः। तथैव काठक-मैत्रायणीय सामगानसंहिता अपि तेनैव महाभागेन प्रकाशिताः। अरविन्दयोगिनो व्याख्यामार्गमाश्रित्य श्रीकपालिशास्त्रिणाऽपि ऋग्वेदस्यारम्भिक-सूक्तान्यधिकृत्य व्याख्याः प्रस्तुताः। होशियारपुरस्थ-विश्वेश्वरानन्दवैदिक-शोध संस्थानस्य संचालकेन श्री विश्वबन्धुशास्त्रिणारचितः 'वैदिक शब्दार्थपारिजातः वैदिकशब्दानां ब्राह्मणेभ्यः प्रभृति पाश्चात्यालोचकान् यावत् समुपलभ्यमानानाम् अर्थानां विवेचनं प्रस्तौति। तस्यैव वैदिकपदानुक्रमकोषोऽनेकेषु भागेषु प्रकाशितष्टिप्पणेषु वैदिकशब्दानां व्युत्पादनं विवेचयति।

अन्यैरपि बहुभिर्विद्वद्भिरद्यापि वेदार्थानुसंधाने यत्नो विधीयते नाऽस्य परम्परा क्षीणा।

---

1. तेषां ऋग् मन्त्रार्थवशेन पादव्यवस्था। गीतिषु सामाख्या। शेषे यजुः शब्दः सायण-अ.वे.उप.पृ० 5 भीमा० सू० 2.1.35-37
2. (1) विदन्ति जानन्ति विद्यन्ते भवन्ति विन्दन्ति विन्दन्ते लभन्ते विन्दते विचारयन्ति सर्वेः मनुष्याः सर्वाः सत्यविद्या यैर्येषु वा तथा विद्वांसश्च भवन्ति ते वेदाः। ऋ०भा०भू०पृ०20

   (2) इष्ट प्राप्त्यनिष्टपरिहारयोरलौकिकमुपायं यो ग्रन्थो वेदयति स वेदः। साय० ऐ०ब्रा०भा०भू० पृ०

   (3) प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुध्यते एवं विदन्ति वेदेन तस्माद्वेदस्य वेदता। सा०वे०भा०भू०पृ०4
3. ऋ० 10.129.1
4. ऋ० 10.129.2
5. ऋ० 10.129.3
6. निरुक्त 1.3
7. निरुक्त 1.7
8. ब्रह्माण्ड पुराण 6.4.1
9. तै.सं. भट्टभास्करभाष्य-उपोद्घात् पृ० 3
10. Karl Geldner-"Siebenzing Lider des Rgveda" P.Peterson : Hymns from the Rgveda.

डा० बलदेव मेहरा
रीडरः संस्कृत विभाग,
महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय, रोहतक

गीता और उपनिषदों में उपलब्ध सांख्य सिद्धान्तों की समीक्षा

गीता और उपनिषदों में वर्णित सांख्य सिद्धान्तों की समीक्षा करने का तात्पर्य है कि ईश्वर कृष्ण की सांख्य परम्परा में प्रतिपादित सिद्धान्तों से गीता और उपनिषदों में वर्णित सांख्य विषयक विचारों की कहाँ तक समानता है और कहाँ असमानता है एवं उन विचारों का किस रूप में समन्वय किया जा सकता है। इसी दृष्टि से यहाँ कारणवाद, जगत् के मूल तत्व, प्रकृति, पुरुष, ईश्वर एवं मुक्ति के सम्बन्ध में गीता, उपनिषद् तथा सांख्य के सिद्धान्तों की समीक्षा की जा रही है।

1. कारणवाद

भारतीय दर्शन में कारणवाद के अन्तर्गत चार सिद्धान्त आते हैं-

(क) प्रतीत्यसमुत्पाद (ख) असत्कार्यवाद (ग) विवर्तवाद (घ) सत्कार्यवाद

प्रतीत्यसमुत्पाद के अनुसार किसी कारण के बिना कोई या घटना नहीं हो सकती। चक्षु आदि के संयोग से ही रूप आदि का ज्ञान होता है। दूसरा असत्कार्यवाद का सिद्धान्त न्याय वैशषिक का है। इस मत के अनुसार कार्य की उत्पत्ति से पूर्व कारण उसमें विद्यमान नहीं रहता।

यदि मिट्टी में घड़ा पहले से ही विद्यमान था तो फिर कुम्हार के चाक घुमाने की आवश्यकता ही नहीं होती। इस सिद्धान्त का संकेत छान्दोग्य उपनिषद् में मिलता है[1]। तीसरा वेदान्त का सिद्धान्त विवर्तवाद है। विवर्त अर्थात् अपने वास्तविक स्वरूप को न छोडकर रूपान्तर जैसा भासित होना। इस सिद्धान्त के अनुसार जिस प्रकार रज्जु में सर्प का आभास होता है उसी प्रकार सत् ब्रह्म असत् प्रपंच रूप में भासित होता है।

चौथा सिद्धान्त सत्कार्यवाद का है जिसको सांख्य दर्शन, गीता तथा उपनिषदों सभी में माना गया है। इस सिद्धान्त के अनुसार यद्यपि कारण से कार्य भिन्न दिखाई देता है और नाम भी दोनों का एक नहीं है फिर भी कारण से कार्य भिन्न नहीं है, भिन्नता केवल धर्म की है। सांख्य के सत्कार्यवाद के सिद्धान्त के अनुसार एक ही वस्तु की अव्यक्त अवस्था को कारण और व्यक्त अवस्था को कार्य कहा जाता है। यह समस्त संसार रूप जो कार्य है वह मूल प्रकृति रूप कारण में अव्यक्तावस्था में विद्यमान रहता है। इसका प्रसंग छान्दोग्य उपनिषद् में मिलता है[2]। कठोपनिषद् के एक स्थल पर कहा गया है कि जो इस जगत् में है वही इससे परे है, जो परे है वहीं यहाँ है। वहाँ इस कथन के आधार पर ऐसा आशय प्रकट होता है कि व्यक्त जगत् भी उतना ही सत्य है जितना इस जगत् से परे रहने ब्रह्म की सत्ता को सत्य माना गया है। यह सिद्धान्त सांख्य के सत्कार्यवाद के समान प्रतीत होता है।

भगवद्गीता में सत् और असत् का वर्णन किया गया है जो सांख्य के सत्कार्यवाद से कुछ भिन्न प्रतीत होता है क्योंकि सांख्य के सत्कार्यवाद के अनुसार कार्य उत्पन्न होने से पूर्व अपने कारण में सत् रहता है। उसका अभाव कभी नहीं होता। गीता में सत् असत् विवेचन यह सिद्ध करता है कि आत्मादि नित्य सत् पदार्थों का कभी अभाव नहीं हो सकता तथा शीतोष्णादि सकारण पदार्थों का कभी आत्मा

में अस्तित्व नहीं हो सकता[3]। गीता के सत् असत् विवेचन का प्रमुख उद्देश्य सत् आत्मा की नित्यता सिद्ध करना तथा जगत् के अन्य पदार्थों (विकारों) की नित्य सत्ता का निषेध करना प्रतीत होता है। गीता का यह सत् असत् विवेचन सांख्य के सत्कार्यवाद से कुछ भिन्न होते हुए भी इतना अवश्य माना जा सकता है कि गीता सांख्य के सत्कार्यवाद के सिद्धान्त के प्रतिकूल नहीं है। सांख्य के सत्कार्यवाद के सिद्धान्त का समर्थन गीता के सत् असत् विवेचन से प्रकारान्तर से हो जाता है। इसी प्रकार पूर्व में कहे गए उपनिषदों के अनेक स्थलें के आधार पर यह कहा जा सकता है कि सांख्य प्रतिपादित सत्कार्यवाद उपनिषदों में भी दृष्टिगोचर होता है।

2. जगत् के तत्व

गीता में पुरुष प्रकृति तथा ईश्वर इन तीन तत्वों के अतिरिक्त अष्टविध प्रकृति के रूप में अन्य आठ तत्वों का वर्णन भी किया गया है। इस प्रकार कुल मिलाकर ग्यारह तत्वों का नामोल्लेख किया गया है। कठोपनिषद् में (1/3/3,4) में आत्मा सहित अठारह तत्वों का उल्लेख मिलता है। महोपनिषद् (1/6) में सांख्य के समान ही पच्चीस तत्वों का स्पष्ट उल्लेख है। पैंगलोपनिषद् में सांख्य प्रतिपादित तत्वों का विकास क्रम भी सांख्य के समान ही है[4]। इस प्रकार उपनिषदों में तत्वों की कुल संख्या सत्रह से पच्चीस तक मिलती है जो कि सांख्य के समान ही है।

गीता और उपनिषदों में सांख्य वर्णित तत्वों के उत्पत्ति क्रम का वर्णन तो अवश्य दृष्टि गोचर होता है किन्तु यह वर्णन पूर्णतया सांख्य के समान नहीं माना जा सकता क्योंकि वहाँ सांख्य के समान ऐसा कुछ नहीं कहा गया है कि किस तत्व के बाद कौन सा तत्व उत्पन्न हुआ है। हाँ इतना अवश्य कहा जा सकता है कि वे आविर्भूत तत्व कुछ नाम भेद से सांख्य के समान ही हैं उदाहरण के लिए गीता की अष्टविध प्रकृति के अन्तर्गत पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, इत्यादि पंच महाभूतों तथा मन, बुद्धि, अंहकार इन तीन अन्तःकरणों का नामोल्लेख किया गया है। इसी प्रकार गीता में सांख्य वर्णित चौबीस तत्वों के 'पर' 'अपर' क्रम उनकी उत्पत्ति क्रम से अथवा स्थूल से सूक्ष्मतर के क्रम से किया गया है जैसा कि सांख्य में किया गया है।

गीता कठोपनिषद् तथा प्रश्नोपनिषद् में किया गया तत्वों का वर्णन प्रायः सांख्य के समान ही है। अन्तर केवल इतना है कि गीता तथा प्राचीन उपनिषदों में तन्मात्रा शब्द का प्रयोग नहीं मिलता। किन्तु भूतात्मा शब्द का प्रयोग केनोपनिषद् में किया गया है[5]। परम्परागत सांख्य में सत्व तथा बुद्धि पयार्यवाची शब्द माने गए हैं[6]। जबकि उपनिषद् में सत्व पद का प्रयोग आत्मा के अर्थ में किया गया है[7]। छान्दोग्य में कहा गया अंहकार बहुत सीमा तक सांख्य में वर्णित अहंकार से समता रखता है। बुद्धि जो कि सांख्य में प्रकृति का विकार है उसे आंशिक रूप से विज्ञान मान सकते हैं और विज्ञान की चर्चा उपनिषदों में यत्र-तत्र मिलती है नैयायिक ज्ञान को बुद्धि का पर्याय मानते हैं किन्तु सांख्य ज्ञान को बुद्धि का सात्विक परिवर्तन मानता है।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि सभी तत्वों का वर्णन तथा जगत् के आविर्भाव की चर्चा यद्यपि सांख्य गीता तथा उपनिषदों की कुछ सीमा तक समान है। किन्तु अपने विकास की सीमा को पहुँचकर सांख्य के विकासवाद का सिद्धान्त मौलिक सा दृष्टिगोचर होता है।

3. प्रकृति

प्रकृति को सांख्य में पूर्णतया स्वतन्त्र तत्व माना गया है। उसका अधिष्ठाता या संचालक ईश्वर या ब्रह्म जैसे किसी अन्य को नहीं माना गया है। प्रकृति के स्वभाव से ही जगत् का आविर्भाव तथा तिरोभाव होता रहता है। पुरुष का उससे केवल सन्निधान मात्र होता है वह उसका प्रेरक या संचालक नहीं है। वह प्रकृति अनादि तथा अनन्त तत्व है। प्रलय काल में भी उसका विनाश नहीं होता। वह अव्यक्तावस्था में सदा विद्यमान रहती है। गीता में भी यद्यपि प्रकृति को अनादि कहकर जगत् निर्माण में हेतु बताया गया है तथापि बाद में यह भी कह दिया गया कि वह प्रकृति ईश्वर की अपरा शक्ति है[8]। इसलिए गीता तथा सांख्य में प्रतिपादित प्रकृति में यहाँ तक तो समानता है कि दोनों जगह प्रकृति को जगत् का हेतु कहा गया है तथा अनादि तत्व के रूप में स्वीकार किया गया है। किन्तु सांख्य तो उस प्रकृति को जगत् का हेतु मानने के साथ साथ स्वतंत्र भी मानता है। किन्तु गीता उस प्रकृति को ईश्वर की पर और अपर दो शक्तियों में से एक शक्ति मानती है। वहाँ पर उस प्रकृति के प्रेरक एवं अधिष्ठाता के रूप में ईश्वर की सत्ता को परमावश्यक माना गया है।

उपनिषद् में प्रकृति को पुरुष का भोज्य कहा गया है[9]। उसको अजन्मा माना गया है[10]। अजन्मा होने से उसका मौलिक तत्व होना स्वयमेव सिद्ध हो जाता है। गीता के समान उपनिषदों में भी प्रकृति का संचालक या प्रेरक ईश्वर को माना गया है।

इस प्रकार उपनिषदों तथा गीता में प्रकृति का वर्णन प्राय: समान सा ही है। किन्तु बाद के सांख्य परम्परा में प्रकृति को पूर्णतया स्वतन्त्र मानकर ईश्वर के अस्तित्व को अनुपादेय मान लिया गया।

4. पुरुष

गीता में चेतन तत्व के अर्थ में पुरुष, जीवात्मा, अक्षर, पराप्रकृति तथा क्षेत्रज्ञ आदि पदों का प्रयोग किया गया है। यहाँ यह विचारणीय है कि क्या इन उपयुक्त चेतनवाची पदों का प्रयोग वहाँ एक ही अर्थ में हुआ है अथवा उनके अर्थों में अन्तर है। इस विषय में विचार करने पर यह प्रतीत होता है कि कहीं पर तो पुरुष या जीवात्मा पद का प्रयोग देही अर्थात् देह धारण करने वाले जीवात्मा के लिए किया गया है। कहीं पर आत्मा पद सार्वभौम आत्मा के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

कठोपनिषद् में आत्मा को भोक्ता कहा गया है[11] श्वेताश्वतर में भी भोक्ता भोज्य और प्रेरयिता पदों का प्रयोग मिलता है, जिनमें से भोक्ता पद जीवात्मा के लिये प्रयुक्त हुआ है[12] श्वेताश्वतर के एक अन्य स्थल पर पुरुष को साक्षी कहा गया है[13]। वहाँ उस पुरुष को 'ज्ञ' अर्थात् ज्ञाता कहा गया है। बृहदारण्यक में भोक्ता उसे कहा गया है जो कि स्थूल शरीर से पृथक् है।[14] वह अपने भोग के लिए नवीन विषयों की सृष्टि कर लेता है।

गीता और उपनिषदों में परमात्मा के अतिरिक्त अनेक शरीरों को धारण करने वाले देही (जीवात्मा) को नित्य सत्ता माना गया है जो कि सांख्य को भी मान्य है।

5. ईश्वर

सांख्य में ईश्वर विषयक मतों के आधार पर सांख्याचार्यों के मतों को तीन भागों में बांटा जा

सकता है -

1. सेश्वर सांख्य 2. अज्ञेयवादी सांख्य 3. निरीश्वरवादी सांख्य

1. सेश्वर सांख्य - गीता में प्रतिपादित सेश्वरवाद के अनुसार सृष्टि में ईश्वर की उपादेयता स्पष्टतया मान्य है। विज्ञानभिक्षु ने भी प्रकारान्तर से सेश्वर सांख्य का समर्थन किया है।

2. अज्ञेयवादी सांख्य - इस मत के अनुसार ईश्वर को केवल असिद्ध कहा गया है न कि उसके अनस्तित्व का प्रतिपादन किया गया है यहाँ यह नहीं कहा जा सकता कि ईश्वर मान्य है अथवा अमान्य है। अत: इस मत को अज्ञेयवाद कह सकते हैं निरीश्वरवाद नहीं।

3. निरीश्वरवादी सांख्य - यद्यपि ईश्वर कृष्ण और गौडपाद ने ईश्वर के अस्तित्व के विषय में स्पष्टतया कहीं प्रतिषेध नहीं किया है तथापि उनके वर्णन के आधार पर ईश्वर की अनुपादेयता स्पष्ट परिलक्षित हो जाती है। इसलिये उनका सांख्य निरीश्वरवादी सांख्य के नाम से प्रसिद्ध है।

सांख्य सूत्रों के विवेचन के आधार पर ऐसा माना जा सकता है कि संभवत: प्राचीन सांख्याचार्य प्रकृति तथा जीव के अधिष्ठाता के रूप में ईश्वर को मानते रहे हैं किन्तु उस ईश्वर की सिद्धि युक्ति तथा तर्क द्वारा होना असंभव जानकर ही उन्होंने ईश्वर की ओर से अपना ध्यान हटा लिया हो। यह भी संभव है कि बौद्धों के प्रभाव को हीं ईश्वर के स्थान पर जड़ जगत् का कारण तथा जीवात्मा को भोक्ता कर्ता आदि मानने लगे हों। इस प्रकार उनकी दृष्टि में सेतु रूप ईश्वर का कोई अस्तित्व नहीं रह गया। बाद में विज्ञान भिक्षु ने पुन: ईश्वर के अस्तित्व का समर्थन किया।

उपनिषद् तथा गीता स्पष्टतया ईश्वर के अस्तित्व का समर्थन करते हैं उपनिषदों तथा गीता में प्रतिपादित उस ईश्वर का योग में भी समर्थन मिलता है। योग सूत्र (1/24) की भोजवृत्ति में कहा गया है कि प्रकृति तथा पुरुष ईश्वर की इच्छा के बिना स्वत: नहीं मिल जाते। यहाँ इतना कह देना अनुचित न होगा कि जिस योग दर्शन में ईश्वर के अस्तित्व का समर्थन किया गया है वह योगदर्शन पहले सांख्य से अभिन्न माना जाता रहा है बाद में जब सांख्य और योग दर्शन पृथक्-पृथक् हो गए तो सांख्य अनीश्वरवादी दर्शन के रूप में प्रसिद्ध हो गया।

6. मुक्ति

उपनिषद्, गीता तथा सांख्य सिद्धान्तों के विवेचन के प्रसंग में मुक्ति के विषय में भी चर्चा की गई है। वहाँ पर यह भी कहा गया है कि मानव जीवन का चरम लक्ष्य मोक्ष प्राप्ति है[15]। मैत्रायिणी उपनिषद् के एक स्थल पर स्वयं को स्वयं से बांधने का वर्णन है। यह वर्णन सांख्यकारिका के उस वर्णन समान है जिसमें प्रकृति द्वारा स्वयं को बांधने का उल्लेख किया गया है। आत्मा जो कि इच्छा और अंहकार से बद्ध है वह मुक्त आत्मा से भिन्न है। बन्धन और मुक्ति का यह सिद्धान्त परम्परागत सांख्य से मिलता है।

बन्धन और मुक्ति के विषय में एक प्रश्न उठता है कि बन्धन और मोक्ष, किसका होता है? पुरुष तो स्वरूपत: मुक्त तथा दृष्टा है। वह बन्धन में कैसे पड़ता है और कौन बन्धन में डालता है और

कौन उसे बन्धन मुक्त करता है। इस विषय में सांख्य का उत्तर है कि पुरुष न तो वास्तव में बन्धन में पड़ता है और न मुक्त होता है। वास्तव में बन्धन और मुक्ति तो प्रकृति की होती है। बन्धन की अनुभूति मन एवं बुद्धि जन्य है। क्योंकि बुद्धि प्रकृति का विकार है। अत: उपलक्षण से ऐसा मान लिया गया है कि बन्धन प्रकृति का होता है। वास्तव में उपनिषदों में तथा गीता में प्रतिपादित मुक्ति के सिद्धान्त तथा सांख्य के मुक्ति के सिद्धान्त में मूलत: कोई विभेद नहीं है। उपनिषद्, गीता तथा सांख्य तीनों में जीवन का चरम लक्ष्य मोक्ष को माना गया है। इस प्रकार अन्त में कहा जा सकता है कि सांख्य विचारधारा बहुत प्राचीन है तथा गीता व उपनिषदों में यह विचार धारा अनेक रूप में दृष्टिगोचर होती है।

---

1. असदेवेदमग्र आसीत्। छान्दोग्य0 6/2/1/
2. छान्दोग्य0 6/1/1/
3. भ0गी0 श्रीधरी व्याख्या -2/16/
4. द्रष्टव्य-गीता की व्याख्याएँ पृ0 43, 44
5. केन0 3/5/
6. सारं व्यसार (उत्तर भाग) 3/18/
7. द्रष्टव्य मुण्डक 3/1/10/
8. दृष्टव्य-भ0गी0 7/5/
9. दृष्टव्य-भ0गी0 पृ0 36-38
10. श्वेत0 1/9
11. कठ0 1/3/4/
12. श्वेत0 1/12/
13. वही 6/11/
14. वृहद0 1/2/5/
15. तत्वसंग्रह, शान्तरक्षित, भाग 2, पृ0 51-54 व 74-79

डॉ0 सरिता भटनागर,
अध्यक्ष संस्कृत,
हिन्दू कॉलेज, मुरादाबाद

स्वामी श्रद्धानन्द जी से बढ़कर बहादुर आदमी मैंने संसार भर में नहीं देखा। जब कोई मुझे महात्मा कहता है, तो मेरा दिल कहता है,''महात्मा मैं नहीं, श्रद्धानन्द जी है।'

महात्मा गांधी

"ऋग्वेद में 'अञ्जू' धातु के प्रयोग"

आचार्य पाणिनि ने धातुपाठ में रुधादिगणान्तर्गत 'अञ्जू' धातु पढ़ी है, जो व्यक्तिप्रक्षणकान्तिगति-इन चार अर्थों में है। 'संस्कृतधातुकोष:' में इसके 1-जाना, 2-साफ करना, स्वच्छ करना, 3-सराहना, विख्यात करना, 4-चमकना, प्रकाशित होना, 5-तैल मर्दन करना, अभ्यञ्जन करना, 6-संवारना, सजाना-ये छ: अर्थ दर्शाये हैं।[1] 'अञ्जू' धातु परस्मैपदी है किन्तु कहीं-कहीं आत्मनेपदी भी प्रयुक्त हुई है।[2] माधवीयाधातुवृत्तिः, में इसे परस्मैपदी ही स्वीकार किया गया है। चन्नवीर कवि ने इस धातु को स्पष्टभाव, कोमल, कान्ति, गति इन अर्थों में गृहीत किया है तथा अक्तः, अक्तवान्, अञ्जकः (स्पष्ट होना), अक्तिः, अक्तम्, अक्तव्यम् (स्पष्ट), अञ्जनः (पर्वत, दिग्गज), अञ्जनम् (अञ्जन), अञ्जना (दिग्गज, माया), अञ्जनावती (दिग्गज ज्योतिष्मती, लता), निरञ्जनः भगवान् (ब्रह्म)-इन अर्थों में माना है।[3] 'अञ्जना' और 'अञ्जनावती' पद दिग्गजार्थ में कहाँ तक उपयुक्त हैं-यह अन्वेष्य है। पाणिनि तथा सारस्वतधातुपाठ, माधवीयाधातुवृत्तिः, एवं संस्कृतधातुकोषः में 'अञ्जू' धातु ऊकारान्त है, जबकि काशकृत्स्नधातुपाठः में यह 'अञ्जु' उकारान्त पठित है।

ऋग्वेद में निरुपसर्ग 'अञ्जू' धातु के अङ्क्ते, अनक्ति, अनक्ति, अञ्जते, अञ्जते, अञ्जते, अञ्जन्ति, अङ्ध्वे, अञ्ज्मः, अनक्तु, अङ्ग्धि, अनक्तन्, अनजन्, अनज्यात्, आनजे, आनजे, अज्यते, अज्यसे, अज्यसे-ये चौदह किन्तु स्वरभेद से उन्नीस रूप प्राप्त होते हैं। ऋग्वेद में यह धातु इन रूपों में सैंतीस स्थलों पर प्रयुक्त हुई है, जो विभिन्न अर्थों को प्रदान कर रही है। ऋग्वेद संहिता के उपलब्ध भाष्यकार स्कन्दस्वामी, उद्गीथ, वेंकटमाधव, सायण, मुद्गल तथा स्वामी दयानन्द ने जिन स्थलों पर 'अञ्जू' धातु को प्रकाशित होना, अर्थ में गृहीत किया है वे निम्न हैं।

व्युच्छन्ती रश्मिभिः सूर्यस्याञ्ज्यङ्क्ते समनगा इव वाः।। ऋ.1.124.8
यदीं गणस्य रशनामजीगः शुचिरङ्क्ते शुचिभिर्गोभिरग्निः।। ऋ.5.1.3
बभ्रुरेको विषुणः सूनरो युवाञ्ज्यङ्क्ते हिरण्ययम्।। ऋ.8.29.1
अनक्ति यद्वां विदथेषु होता ।। ऋ.1.152.2
पूर्वे अर्धे रजसो भानुमञ्जते ।। ऋ.1.92.1
अङ्ग्धि रवम् ।। ऋ.10.156.3
गोभिर्वाणो अज्यते सोभरीणां रथे कोशे हिरण्यये ।। ऋ.8.20.8

विस्तृत, कामना तथा प्रकट करना अर्थ-

अञ्जन्ति यं प्रथयन्तो न विप्राः ।। ऋ.5.43.7

देवता-विश्वेदेवाः। मेधावी अध्वर्यु अग्नि के ऊपर जिस हव्यपात्र को विस्तृत करते हुए स्थापित करते हैं।

वेंकटमाधव ने धात्वर्थ विस्तृत करना किया है-

जिस अग्नि को ब्राह्मण विस्तारक मिट्टी की तरह विस्तृत करते हुए आज्य से विस्तृत करते हैं।[4] सायण ने भी यही अर्थ गृहीत किया है। स्वामी दयानन्द यहाँ धात्वर्थ 'कामना' अथवा 'प्रकट करना' लेते हैं-''विद्यार्थिन्, प्रसिद्ध करते हुए बुद्धिमान् जनों के सदृश.......कामना करते या प्रकट करते हैं।[5]''

दूध देना, प्रकट होना अर्थ-

ऋतस्य याः सदने कोशे अङ्ध्वे।। ऋ.10.100.10

देवता-विश्वेदेवाः। ''गायो, यज्ञ में तुम दुग्धपात्र में दूध देती हो।'' वेंकटमाधव ने भी 'दूध देना' अर्थ धातु का किया है[6], किन्तु सायण 'प्रकट करना' अर्थ मानते हुए व्याख्यान करते हैं-''गायों, तुम यज्ञ के घर में दोहन-स्थान पर प्रकट होती हो।[7]''

पान, प्रकट, गमन, तृप्त करना अर्थ-

इन्द्रं मरुतो रोदसी अनक्तन।। ऋ.10.76.1

देवता-ग्रावाणः। ''हे पत्थरो, तुम सोम देकर इन्द्र, मरुत् और द्यावापृथिवी को अनुकूल करो।'' स्कन्दस्वामी ने पान करना, प्रकट करना, या जाना अर्थ मानते हुए मन्त्रार्थ किया है-हे पत्थरो, आराध्यमान इन्द्र, मरुत् और द्यावापृथिवी को तुम निरन्तर सोम पान कराओ अथवा यज्ञाङ्गभाव हेतु इन्हें प्रकट करो या इनमें जाओ।[8]'' वेंकटमाधव ने तृप्त्यर्थ में धातु को माना है-''हे पत्थरो, इन्द्रादि को सोम से तृप्त करो।[9]'' किन्तु सायण 'प्रकट करना' अर्थ मानते हैं-''हे पत्थरो, सोम से तुम इन्द्र, मरुत् तथा द्यावापृथिवी को प्रकट करो।[10]''

प्रकाशन, दान करना अर्थ-

भगो वा गोभिरर्यमेमनज्यात्।। ऋ.10.31.4

देवता-विश्वेदेवाः। ''भग और अर्यमा स्तुति के द्वारा प्रसन्न होकर स्नेह-युक्त हों''। वेंकटमाधव यहाँ धातु को प्रकाशनपरक मानते हैं-''इस अग्नि को भग अथवा अर्यमा रश्मियों से प्रकाशित हो।'' सायण ने धात्वर्थ दान किया है- ''भग और अर्यमा हमारी स्तुति की वाणियों से स्तुति प्राप्त कर ऐसे दृष्टादृष्ट फल को व्यक्त करें अर्थात् देवें।'' यहाँ व्यक्त करना देने अर्थ को बताता है।

संस्कृत करना अर्थ-

राजानो न प्रशस्तिभिः सोमासो गोभिरञ्जते।। ऋ.9.10.3

देवता-पवमानः सोमः। ''जैसे स्तुतियों से राजा सन्तुष्ट होते हैं, वैसे ही गव्य के द्वारा सोम संस्कृत होता है।'' वेंकटमाधव एवं सायण भी यही अर्थ गृहीत करते हैं।13

उत त्वामरुणं वयं गोभिरञ्ज्मो मदाय कम्।। ऋ.9.45.3

देवता-पवमानः सोमः। ''हे सोम, मद के लिए रक्तवर्ण तुम्हें हम दुग्ध आदि से संस्कृत करते हैं।'' वेंकटमाधव तथा सायण धात्वर्थ संस्कृत करना मानते हैं।[14]

ऋग्वेद के भाष्यकारों ने 'अञ्जू' धातु का प्रायः **'तृप्त करना'** अर्थ अनेक मन्त्रों में माना है, वे निम्न हैं-

अ॒ञ्जन्ति॑ त्वाम॑ध्व॒रे दे॑व॒यन्तो॒ वन॑स्पते॒ मधु॑ना॒ दैव्ये॑न॥ ऋ.3.8.1

स्वामी दयानन्द ने यहाँ 'कामना करना' अर्थ माना है-"हे किरणों के रक्षक सूर्य के समान वर्तमान तेजस्वी विद्वन्, विद्वानों में हुए कोमल स्वभाव के साथ वर्तमान कामना करते हुए विद्वान् जिन आपको पढ़ने-पढ़ाने और राज्य पालनादि व्यवहार में चाहते हैं।"[15]

अ॒ञ्जन्ति॑ सु॒प्रय॑सं॒ पञ्च॒ जना॑:॥ ऋ.6.11.4

यत्त्वा॒ होता॑रम॒नज॑न्॥ ऋ.3.19.5

देवता-अग्निः। स्वामी दयानन्द ने मन्त्रार्थ 'कामना करना' माना है-"हे विद्वान्, पुरुष, जिन विद्यादाता आपकी कामना करें।"[16]

गमन, सिञ्चन, आर्द्र, तर्पण, कामना करना अर्थ-

अ॒ञ्जन्ति॒ यं द॑क्षिण॒तो ह॒विर्भि॑:॥ ऋ.1.95.6

देवता-सत्यगुणविशिष्टोऽग्निः, शुद्धोऽग्निर्वा। "जिस अग्नि का दक्षिण हव्य द्वारा सेवन करते हैं।" स्कन्दस्वामी ने 'अञ्जन्ति' क्रिया शुद्ध होने पर भी सोपसर्ग गृहीत की है तथा **हविर्भिः** का अर्थ हवि ग्रहण करने वाले किया है, मन्त्रार्थ इस प्रकार है-"हवि ग्रहण करने वाले दक्षिण दिशा में जिस अग्नि में होम के लिये जाते हैं।"[17] एवं क्रियार्थ 'गमन' है। वेंकटमाधव सींचना अर्थ लेते हैं-"इस यज्ञस्थल को अध्वर्युगण आहवनीय दक्षिण का अतिक्रमण करके वहाँ स्थित हवियों के द्वारा सींचते हैं।[18] सायण एवं मुद्गल ने आर्द्र करना, तर्पण करना अर्थ माना है-"जिस अग्नि को आहवनीय के दक्षिणभाग में अवस्थित ऋत्विजगण चरुपुरोडाशादि के द्वारा आर्द्र करते हैं तर्पण करते हैं।[19] स्वामी दयानन्द 'कामनार्थ' धातु का लेते हैं-"दक्षिणायन काल के विभाग से यज्ञसामग्री करके जिस समय को विद्वान् जन चाहते हैं।[20]

भाष्यकारों ने जिन मन्त्रों का अर्थ '**मिश्रित करना**' वा '**मिलाया जाना**' लिया है, वे निम्न हैं-

तुभ्येत्सो अ॑ज्यते र॒यिः॥ ऋ.8.51.9

देवता-इन्द्रः। "हे धनद इन्द्र, वे तुम्हारे साथ मिलते हैं।"

जने॑ मि॒त्रो न दम्प॑ती अनक्ति॒॥ ऋ.10.68.2

देवता-बृहस्पतिः। जैसे मित्र दम्पती (स्त्री और पुरुष) का मिलन करा देते हैं, वैसे ही बृहस्पति ने गायों को लोगों के साथ मिला दिया।"

त॒न्वा॒ना य॒ज्ञमा॑नु॒षग्यद॑ञ्ज॒ते॥ ऋ.9.102.7

देवता-पवमानः सोमः। "याज्ञिक पुरोहित सोम को जल में मिलाते हैं।"

अ॒ञ्जते॒ व्य॑ञ्जते॒ सम॑ञ्जते॒॥ ऋ.9.86.43

देवता-पवमानः सोमः। "ऋत्विक् लोग गोदुग्ध में सोम को मिलाते हैं, विविध प्रकार से मिलाते हैं, भली-भाँति मिलाते हैं।"

यहाँ वि और सम् उपसर्ग पूर्वक भी धातु है, किन्तु अर्थ 'मिलाना' ही है।

अञ्जन्त्येनं मध्वो रसेनेन्द्राय वृष्ण इन्दुं मदाय।। ऋ.9.109.20

देवता - पवमानः सोमः। ''कामवर्षक इन्द्र की मत्तता के लिये ऋत्विक् सोम को मधुर रस के साथ मिलाते हैं।''

इन्दुर्हिन्वानो अज्यते मनीषिभिः।। ऋ.9.76.2

देवता - पवमानः सोमः। ''सोम मेधावियों के द्वारा भेजे जाकर दूध आदि में मिलाये जाते हैं।

कनिक्रदत् कलशे गोभिरज्यसे।। ऋ.9.85.5

देवता - पवमानः सोमः। ''सोम, शब्द करते हुए और कलश में वर्तमान तुम गोदुग्ध में मिलाये जाते हो।''

नृचक्षा ऊर्मिः कविरज्यसे वने।। ऋ.9.78.2

देवता - पवमानः सोमः। ''यजमानों के द्वारा वर्धित होकर मेधावी सोम, तुम जल में मिलाये जाते हो।''

सींचना, प्रकट करना अर्थ -

यत् सीमञ्जन्ति पूर्व्यं हविर्भिः।। ऋ.3.14.3

देवता - अग्निः। ''क्योंकि ऋत्विक् लोग हव्य द्वारा पुरातन अग्नि को सींचते हैं।'' वेंकटमाधव एवं सायण ने धात्वर्थ सींचना लिया है,[21] किन्तु स्वामी दयानन्द '**प्रकट करना**' अर्थ दर्शाते हैं - ''हे अग्नि के सदृश प्रकाशयुक्त विद्वान् पुरुष, ग्रहण करने योग्य साधनों से जिस प्राचीन लोगों से रचे गये वाहन - विशेष को सब प्रकार प्रकट करते हैं।''[22]

अञ्जन्ति मित्रं सुधितं न गोभिः।। ऋ.5.3.2

देवता - अग्निः। ''हे अग्निदेव! वे तुम्हें बन्धु की तरह गव्य द्वारा सींचते हैं।'' वेंकटमाधव एवं सायण ने धात्वर्थ '**सींचना**' लिया है,[23] किन्तु स्वामी दयानन्द '**प्रकट करना**' अर्थ मानते हैं - ''हे अच्छे अन्न से युक्त राजन्, आप वाणी और पदार्थों से सुन्दर प्रसन्न मित्र के सदृश प्रकट होते हो [24]''

रेभो यदज्यसे वने।। ऋ.9.66.9

देवता - अग्निः पवमानः च। ''सोम, जब तुम शब्द करते हुए वसतीवरी नामक जल से सींचे जाते हों।''

मध्वोर्धाराभिरज्यसे।। ऋ.3.40.6

देवता - इन्द्रः। ''इन्द्र मदकारक सोम की धारा से तुम सींचे जाते हो।''

इन दोनों स्थलों पर भाष्यकारों ने धात्वर्थ '**सींचना**' लिया है।[25]

स्निग्ध होना अर्थ -

अत्यो न गोभिरज्यते।। ऋ.9.32.3

देवता-सोमः। "यह सोम गव्य के द्वारा स्निग्ध होते हैं।[26]"

स्रुचा प्रतीकमज्यते॥ ऋ.10.118.3

देवता-अग्निः। "सभी देवों के पूर्व अग्निदेव को स्रुक् के द्वारा स्निग्ध किया जाता है।[27]"

पूजा, यजन, स्तुति, कामना, प्राप्ति, ज्ञान करना अर्थ-

युवां यज्ञैः प्रथमा गोभिरञ्जते॥ ऋ.1.151.8

देवता-मित्रावरुणौ। "हे मित्रावरुणौ, तुम्हें यजमान लोग अन्य देवों के पहले पूजते हैं।[28]" सायण ने धात्वर्थ 'यजन करना' और 'स्तुति करना' लिया है-"मित्रावरुण, तुम्हें दूधादि के द्वारा यजमान यजन करते हैं अथवा वाणियों से स्तुति करते हैं।[29]" स्वामी दयानन्द ने 'मित्रावरुण' का अर्थ 'अध्यापकोपदेशक सज्जन' गृहीत कर धात्वर्थ 'कामना' लिया है-"हे अध्यापकोपदेशक सज्जनों, जो यज्ञों से और सुन्दर शिक्षित वाणियों से कामना करते हैं।[30]"

अग्निर्देवाँ अनक्तु नः॥ ऋ.8.39.1

देवता-अग्निः। "हमारे यज्ञ में अग्नि हव्य द्वारा देवों की पूजा करे।[31]"

अस्य स्तोत्रे धिषणा यत्त आनजे॥ ऋ.1.102.1

देवता-इन्द्रः। "इन्द्र, तुम्हारे उद्देश्य से मैं इस महती स्तुति को सम्पादन करता हूँ।" स्कन्द स्वामी ने धात्वर्थ 'प्राप्त करना' किया है-"हे इन्द्र, इस यजमान की स्तुति लक्षणों वाली वाणी तुम्हें प्राप्त हुई।[32]" सायण एवं मुद्गल ने यहाँ संश्लिष्टार्थ ग्रहण किया-"हे इन्द्र, तुम्हारी बुद्धि इस मुझ स्तोता के स्तोत्र में संश्लिष्ट हुई।[33]" यहाँ 'संश्लिष्ट होना' प्राप्ति का ही द्योतक है। स्वामी दयानन्द ने यहाँ कामना करना, प्रकट करना और समझना अर्थ माना है-"हे सर्वविद्या देने वाले शाला आदि के अधिपति, जो इन आपकी विद्या और उत्तम शिक्षा की हुई वाणी सब लोगों ने चाही, प्रकट की और समझी है।[34]"

मध्वा होतारो अञ्जते॥ ऋ.8.72.9

देवता-अग्निः हवींषि वा। "मधु के द्वारा होता अग्नि का यजन करते हैं।[35]"

गमन, कामना अर्थ-

उदु स्वरुर्नवजा नाक्रः पश्वो अनक्ति सुधितः सुमेकः॥ ऋ.4.6.3

देवता-अग्निः। नवजात यूप उन्नत होता है। आक्रमणकारी और सुदीप्त कुठार पशुओं के निकट गमन करता है।" वेंकटमाधव एवं सायण ने धात्वर्थ 'गमन' लिया है,[36] किन्तु स्वामी दयानन्द 'कामना' अर्थ दर्शाते हैं-"हे मनुष्यों, उत्तम प्रकार धारण किये हुए सुन्दर प्रकाशमान् नहीं किञ्चित् चलने वाला किन्तु वेग से जाने वाला नवीनों में उत्पन्न सूर्य उपदेश देने वाले के समान शोभा करता है, वैसे विद्वान् वर्ताव करें, और वह पशुओं की हिंसा न करे।[37]"

प्राप्त करना अर्थ-

स पूर्व्यो महानां वेनः क्रतुभिरानजे।
यस्य द्वारा मनुष्पिता देवेषु धिय आनजे॥ ऋ.8.63.1

देवता - इन्द्रः। ''इन्द्र मुख्य है, वह पूजनीयों के कर्मों से क्रान्त हैं, वह आते हैं। देवों के बीच पिता मनु ने ही इन्द्र के पाने के उपायों को प्राप्त किया था।'' वेंकटमाधव एवं सायण ने 'प्राप्ति' अर्थ ही लिया है।[38]

एवं 'अञ्जू' धातु ऋग्वेद में प्रकाशन, विस्तारण, कामना, प्रकटन, दूध देना, पान करना, जाना, तृप्त करना, दान देना, संस्कृत करना, चाहना, सींचना, आर्द्र करना, तर्पण करना, मिश्रित करना, मिलाना, स्निग्ध होना, पूजा करना, यजन करना, स्तुति करना, प्राप्त करना, ज्ञान होना - इन अर्थों में प्रयुक्त हुई है। लोक में यह धातु परस्मैपदी है, संस्कृतधातुकोषकार ने इसे आत्मनेपदी भी स्वीकार किया है, किन्तु प्रयोग प्रायः अनुपलब्ध हैं। ऋग्वेद में परस्मैपदी प्रयोगों के साथ-साथ आत्मनेपदी प्रयोग भी प्राप्त हुए हैं। उपरोक्त अर्थ देखने में प्रायः क्वचित् एक जैसे प्रतीत होते हैं, किन्तु गम्भीरता से निरीक्षणोपरान्त इनमें भिन्नता अवश्य दिखायी देती है। जैसे मिलाना और मिश्रित करना। देखने में एक जैसे होने पर भी अर्थ-भिन्नता है। मित्र ने मित्र को मिलाया, यहाँ 'मिलाना' पारस्परिक सम्बन्धों का द्योतक है। जल में सोम को मिश्रित किया यहाँ मिश्रित करना मिलाने से भिन्न मिश्रण का प्रतीक है। ऐसे ही पूजा करना, यजन करना, स्तुति करना धातुएँ भी भिन्न-भिन्न अभिप्राय और क्रियाओं की सूचक हैं। प्राप्त करना, ज्ञान होना, गमन करना - ये गत्यर्थक धातुएँ हैं। **गतेस्त्रयोऽर्थाः, ज्ञानं गमनं प्राप्तिश्चेति**, ज्ञान, गमन और प्राप्ति - ये गति ही हैं, किन्तु इन गतियों में अतिसूक्ष्म अन्तर है। जैसे ज्ञान का बुद्धि से, गमन का पैरों से तथा प्राप्ति का हाथों से कहीं न कहीं अवश्य सम्बन्ध है। इस प्रकार गति भी भिन्नता को छिपाये हुए है। एवं जो 'अञ्जू' धातु लोक में सामान्य रूप से चार और विशेष रूप से छः अर्थों को दर्शाती है, वही ऋग्वेद में बाईस अर्थों को प्रदर्शित कर रही है।

सन्दर्भ स्थल -

1. रामलाल कपूर ट्रस्ट बहालगढ़ सोनीपत, हरियाणा से प्रकाशित।
2. रामलाल कपूर ट्रस्ट बहालगढ़ सोनीपत, हरियाणा से प्रकाशित।
3. काशकृत्स्नधातुव्याख्यानम् रुधा 17।
4. आज्येन अञ्जयन्ति यम् धर्मं ब्राह्मणाः प्रथनीयं मृदादिकमिव।
5. कामयन्ते प्रकटयन्ति वा।
6. यज्ञस्य याः सदने कोशे गृहीतं ग्रहणमिश्रणेन अङ्ध्वे।
7. याः ऋतस्य यज्ञस्य सदने गृहे कोशे गोष्ठे दोहनस्थाने अङ्ध्वे व्यञ्जयथ।
8. अनक्तन सततं हेतुकर्तृत्वेन सोमं पाययतेत्यर्थः, अथवा यज्ञाङ्गभावाय व्यञ्जयत गमयत वा।
9. इन्द्रादीन् सोमेन अनक्तन।
10. अनक्तन व्यञ्जयथ।
11. अग्निम् भगः अर्यमा वा गोभिः अनक्ति रश्मिभिः।
12. अनज्यात् व्यक्तीकुर्यात् दद्यादित्यर्थः।
13. क- सोमाः गोभिः अज्यन्ते। ख- संस्क्रियन्त इत्यर्थः।
14. क-गोविकारैः वासयामः मदार्थम्। ख- वासयामः संस्कुर्मः।
15. अञ्जन्ति कामयन्ते त्वाम्।

16. यः त्वाम् विद्यादातारम् कामयेरन्।
17. अञ्जन्ति अञ्जतिर्गत्यर्थः। शुद्धोऽपि चात्र सोपसर्गार्थे द्रष्टव्यः। होमार्थमुपगच्छन्ति।.....हविर्भिः. ....गृहीतहविष्का इत्यर्थः।
18. तत्र स्थिताः हविर्भिः सिञ्चन्ति।
19. अञ्जन्ति आर्द्रीकुर्वन्ति तर्पयन्ति।
20. कामयन्ते कालम् दक्षिणायनकालविभागात् यज्ञसामग्रीभिः।
21. क- अग्निम् ऋत्विजः अञ्जन्ति। ख- अञ्जन्ति सिञ्चन्ति।
22. यत् सीम सर्वतः अञ्जन्ति प्रकटयन्ति।
23. क- अञ्जन्ति सखायम् इव। ख- क्षीरादिभिः अञ्जन्ति।
24. अञ्जन्ति व्यक्तीकुर्वन्ति।
25. अज्यसे अक्तः सिक्तो भवसि। धाराभि अज्यसे सिच्यसे-सा.।
26. अज्यते सिच्यते स्निग्धीक्रियते-सा.।
27. क- जुह्वा अस्य मुखम् अज्यते वे.। ख- सिच्यते-सा०।
28. समञ्जन्ति यजवन्तौ-वें.।
29. अञ्जते व्यञ्जयन्ति यजमानाः। यद्वा। गोभिः अञ्जते स्तुवन्ति।
30. सुशिक्षिताभिर्वाणिभिः अञ्जते कामयन्ते।
31. क- अनक्तु हविर्भि.-वें.। ख- देवान् हविर्भिः अनक्तु-सा.।
32. त्वाम् आनजे अञ्जेर्गत्यर्थस्येदं रूपम् गता प्राप्ता।
33. आनजे अक्ता संशिलष्टासीन्।
34. या यस्य वा तव सर्वैः काम्यते प्रकटयते विज्ञायते।
35. क- अग्निम् अञ्जते-वें.। ख- परि अञ्जते-सा.।
36. क- गच्छति यज्ञम्। ख- पशून् अनक्ति गच्छति।
37. पशून् अनक्ति कामयते।
38. क- आनजिः प्राप्तिकर्मा। ख- आनजे प्राप। आनजिः प्राप्तिकर्मा।

डॉ० सत्यदेव निगमालंकार
रीडर,
श्रद्धानन्द वैदिक शोध संस्थान
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय,
हरिद्वार (उत्तरांचल)-249404

मानसिक स्वास्थ्य एवं योग

आज भौतिक चकाचौंध से परिपूर्ण वातावरण में व्यक्ति की इच्छाएँ पूर्ण होना अत्यन्त कठिन कार्य है। ऐसे समय विषमताओं में जीवनयापन करके व्यक्ति मानसिक रूप से स्वस्थ रहे, यह आश्चर्यजनक है। आज का वातावरण उसको सामान्य जीवन जीने में व्यवधान उत्पन्न करता है। इसी कारण मानसिक तनाव होना स्वाभाविक हो गया है। यह मानसिक तनाव व्यापक रोग के रूप में इस भूतल पर फैलता जा रहा है तथा समाज मानसिक रूप से रुग्ण हो गया है। ऐसे समय मानसिक स्वास्थ्य को बनाये रखने के लिये महती आवश्यकता है, तभी मनुष्य जीवन को उचित रीति से व्यतीत कर सकता है।

मानसिक स्वास्थ्य क्या है ?

मानसिक स्वास्थ्य मानसिक रोग न होना नहीं, अपितु दैनिक जीवन में समायोजन की प्रक्रिया अपनाकर अधिकतम आनन्द लाभ करते हुए सकारात्मक दृष्टिकोण रखकर जीवन जीने की कला है। ऐसा व्यक्ति अपने कार्यों को सफलतापूर्वक सम्पन्न करता है। उसका शरीर व मस्तिष्क उसके वश में रहते हैं। वह समग्र व्यक्तित्व का धनी होता है। सुश्रुत की यह स्वास्थ्य–परिभाषा ध्यान देने योग्य है–

समदोषः समाग्निश्च समधातु मलक्रियः।

प्रसन्नात्मेन्द्रियमनो स्वस्थ इत्यभिधीयते।।[1]

इसमें केवल शारीरिक स्वास्थ्य नहीं अपितु आत्मा, इन्द्रियों और मन को प्रसन्न रखना भी सम्पूर्ण स्वास्थ्य के लिए अनिवार्य कहा गया है।

मानसिक रुग्णता की स्थिति के कारण :–

मानसिक रुग्णता उत्पन्न करने के लिए वातावरण में अनेक कारण हैं। इच्छानुकूल कार्य न होना, धन–पद–मान प्राप्ति की तीव्र इच्छा का पूर्ण न होना, परिवार में कलह या कष्ट बने रहना, किसी प्रियजन द्वारा धोखा देना, व्यवसाय में घाटा, नौकरी में अधिकारी की प्रताड़ना, अनैतिक आचरण से भय बने रहना, नए स्थान पर समायोजित न हो सकना, क्रोध, भय, चिन्ता, द्वेष, बेरोजगारी आदि मानसिक रुग्णता के कारण हो सकते हैं।

डॉ. हेंस सेल्ये के शब्दों में –

"Stress is a state of mind which reflects certain biochemical reactions in the human body and is projected by a sense of anxiety, tension and depression and is caused by such demands by the environmental forces or internal forces that can not be met by the resources available to the person. The intensity of such demands that require re-adjustment of resources or operational styles would

determine the extent of stress. Such environmental events or conditions that have the potential to induce stress are known as stressors."[2]

मानसिक रुग्णता का व्यक्ति पर प्रभाव :-

जब व्यक्ति मानसिक रूप से स्वस्थ नहीं रहता तो शरीर व मन पर उसका बहुत विपरीत प्रभाव पड़ता है। तंत्रिका तन्त्र, पाचन तन्त्र, रुधिर परिसंचरण तन्त्र, श्वसन तन्त्र तथा अन्त:स्रावी ग्रन्थियों को प्रभावित करने के कारण इनकी क्रिया बाधित होने लगती है। अधिक दिन ऐसी अवस्था रहने पर अनेकानेक व्याधियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। तनावग्रस्त ऐसे व्यक्ति को देखकर पता चल जाता है कि वह मानसिक रूप से रुग्ण है। उसमें निम्नलिखित लक्षण दिखाई पड़ते हैं – हाथ–पैर काँपना, पसीना आना, गला सूखना, तेज श्वास–प्रश्वास चलना, बार–बार मलमूत्र का वेग होना, कन्धे–कमर–गर्दन–सिर में दर्द, हाथ–पैरों की अंगुलियों का ठंडा होना, चिड़चिड़ापन, अनिद्रा, असुरक्षा की भावना, चिन्तित रहना, एकान्तवास की इच्छा होना, धूम्रपान व मद्यपान का अचानक सेवन करने लगना, थकान, क्रोध, कामशक्ति की कमी, एकाग्रता का अभाव, निर्णय में अक्षमता, जिम्मेदारी से भागना आदि। यद्यपि व्यक्ति का जीवन तनावमय हो गया है फिर भी यह स्वीकार करना वह अपनी कमजोरी समझता है। इसी कारण वह अपने मन की व्यथा अपने मित्र, सहचर, बच्चे, सम्बन्धी आदि किसी से कहना नहीं चाहता। वह स्वयं को अस्वस्थ भी नहीं समझता। इसी कारण तनाव से मुक्त होने का प्रयास भी नहीं करता। फलस्वरूप आत्मघाती प्रवृत्ति बल पाने लगती है और संसार को दु:ख का आगार समझकर वह इसमें रहना नहीं चाहता।

योग व्यक्ति को जीवन जीना सिखाता है। यह उपचार–पद्धति नहीं, जीवन–पद्धति है। यदि व्यक्ति अपने जीवन में योग को ढाल ले या यूँ कहें कि योगमय जीवन कर ले तो फिर वह सब संकटों से उबर सकता है। यद्यपि आधुनिक चिकित्सा विज्ञान ने कुछ औषधियों का निर्माण किया है तथापि वे औषधियाँ तंत्रिका तंत्र तथा पाचन तन्त्र को अस्त–व्यस्त कर देती हैं। कुछ न कुछ अपना दुष्प्रभाव अवश्य छोड़ जाती हैं जिसके कारण अन्य अनेकानेक रोग प्रादुर्भूत हो जाते हैं। किन्तु योग की अमृतमयी धारा के सेवन से तो कल्याण ही कल्याण है।

मानसिक स्वास्थ्य प्राप्ति के साधन :-

योग के मुख्यत: चार भेद माने गए हैं– राजयोग, भक्तियोग, ज्ञानयोग और कर्मयोग।[3] इनके अतिरिक्त हठयोग और मन्त्रयोग को भी इनके साथ समान स्तर प्राप्त है।[4] राजयोग चित्त के नियन्त्रण का विधायक है। यदि चित्त को वश में कर लिया तो मानसिक अस्वास्थ्य की स्थिति नहीं आएगी। हठयोग की क्रियाएं शरीर शोधन कराती हैं तथा राजयोग के उपयुक्त बनाती हैं।[5] भक्तियोग ईश्वर के प्रति समर्पण का भाव है।[6] यही भाव ईश्वरप्रणिधान में निहित है। प्रभु की इच्छा में ही प्रसन्न रहना और अपना सर्वस्व उसको अर्पित करके निश्चिन्त हो जाना ही भक्तियोग है।[7] मन्त्रयोग भी भक्तियोग में समाविष्ट है। ईश्वर का सर्वोत्तम नाम **"ओ३म्"** है।[8] ओ३म् का निरन्तर जप करना ही स्वाध्याय

कहलाता है।[९] यही मन्त्रयोग है।

ज्ञानयोग साधना श्रवण–चतुष्ट्य पर आधारित है। श्रवण, मनन, निदिध्यासन में सफलता पा लेने पर साक्षात्कार की स्थिति प्राप्त होती है।[१०] इस स्थिति की प्राप्ति के लिए विवेक ज्ञान की आवश्यकता है। यही विवेक विद्या है। नित्य क्या है? अनित्य क्या है? पवित्र क्या है? अपवित्र क्या है? सुख क्या है? दु:ख क्या है? आत्मा क्या है? जगत् क्या है? इन समस्त तथ्यों का ज्ञान होना ही विवेक कहलाता है। विवेक होने पर ही वैराग्य आता है। जो असार है, अनित्य है, अशुचि है, दु:खरूप है, अनात्म पदार्थ हैं, वे सभी त्याज्य हैं, उनसे विरक्ति हो जाती है।[११] विराग का भाव धारण करने पर साधक सांसारिक पदार्थों में आसक्त नहीं होता। सब कुछ सांसारिक सुख प्राप्त करके भी वह जल में कमलवत् उनसे पृथक् रहता है। ऐसा व्यक्ति भला किस मानसिक दबाव को अनुभव करेगा? मानसिक दबाव की स्थिति उस तक पहुंच नहीं सकेगी।

कर्मयोग का सिद्धान्त बताता है कि अपनी सामर्थ्यानुसार केवल कर्म करते रहें। जो कर्म करेंगे उसका फल अवश्यमेव भोगना पड़ेगा। कर्म अच्छा हो या बुरा। पुण्यापुण्य फलभोग के लिए जन्म लेना पड़ेगा। जन्म लेकर फिर कर्म करना, फिर नवीन संस्कारों का उदय, फिर फलभोग रूप आगामी जन्म लेना– यही क्रम चलता रहेगा। व्यक्ति बन्धन में बंधा रहेगा। ऐसे कर्म करके हम न तो मोक्ष पा सकते हैं और न ही संसार में सफल हो सकते हैं। कर्म को ईश्वर प्रणिधान के माध्यम से फल रहित किया जा सकता है। कुशलता से कर्म करना जिससे वह बन्धनकारी न हो, यही तो कर्मयोग का सिद्धान्त है। 'कर्मों में कुशलता योग है"[१२] यह गीतावाक्य इसी प्रकार के कर्म की ओर इंगित करता है। अत: ऐसे कर्म का कर्त्ता भी तनाव या मानसिक दबाव से सर्वदा ऊपर ही रहता है।

अष्टांगयोग की साधना को लीजिए। योग के आठ अंग हैं– यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि।[१३] इनमें प्रथम यम आचरण के नियम हैं। ये पांच कहे गए हैं– अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह।[१४] अहिंसा का अर्थ है–किसी भी प्राणी को मन, वचन व कर्म द्वारा किसी भी रूप में कष्ट न देना।[१५] अहिंसा का पालन करने वाला दूसरे को कष्ट देने का विचार भी नहीं लाएगा। ऐसा व्यक्ति मानसिक दबाव के लिए उपयुक्त नहीं है। सत्य का पालन करने वाला असदाचरण से सर्वदा विमुख रहने के कारण तनाव की स्थिति कभी नहीं आने देगा।[१६] अस्तेय का अर्थ है–चोरी के भाव का सर्वथा त्याग।[१७] ब्रह्मचर्य का अर्थ है–उपस्थेन्द्रिय का संयम।[१८] साथ ही ब्रह्म के भाव में सदा सर्वदा के लिए लिप्त होना भी इसका अपरार्थ हैं। ब्रह्म के निकट रहने का भाव भी यही संकेत करता है। ऐसा व्यक्ति जो ब्रह्म भाव में स्थित हो, क्या मानसिक दबाव में आएगा? नहीं। क्योंकि सांसारिकता में पूर्णतया डूबे व्यक्ति ही इच्छानुकूल कार्य न होने पर दबाव में आते हैं। उपस्थेन्द्रिय संयम से अनेकानेक दोषों से बचने के कारण भी व्यक्ति मानसिक उलझनों से बच जाता है। अपरिग्रह का अर्थ है– आवश्यकता से अधिक वस्तु का संग्रह न करना। संग्रह के साथ दोष स्वत: आ जाते हैं। अत: संग्रह के भाव का परित्याग करके ही आत्मिक सुख की प्राप्ति होगी।[१९]

नियमों[२०] में सर्वप्रथम शौच के लिए कहा गया है। शौच का अर्थ है पवित्रता। पवित्रता हर दृष्टि से पालनीय है। शारीरिक तो सभी करते हैं किन्तु मानसिक पवित्रता चाहिए। मानसिक पवित्रता

सत्याचरण से आती है।[21] ऐसे मानसिक पवित्र व्यक्ति को मानसिक दबाव की स्थिति नहीं झेलनी पड़ती। इस शुचिता के भाव से विरक्ति का भाव दृढ़ होता है[22] जिससे वह पाप कर्मों से बच जाता है। ऐसा व्यक्ति सर्वदा प्रसन्नचित्त रहता है।

नियम का दूसरा अंग है– संतोष। व्यक्ति की इच्छाएँ कभी भी समाप्त नहीं होती जिससे उसको तनाव रहता है।[23] यदि वह सन्तोष को जीवन में धारण कर ले तो अतृप्त इच्छाएँ भी उसे कष्टदायी प्रतीत नहीं होंगी। तप को अपनाकर व्यक्ति जीवन के कष्टों को सहन करने का सामर्थ्य प्राप्त कर लेता है।[24] वह अनुकूल व प्रतिकूल स्थितियों में एक जैसा रह सकता है। अतः इस अभ्यास से उसको तनाव से दूर रहने की स्थिति प्राप्त हो जाएगी। स्वाध्याय प्रणव के जाप तथा मोक्ष शास्त्रों के अध्ययन को कहा जाता है।[25] प्रणवजाप से ईश्वर में आस्था बलवती होती है तथा मोक्षशास्त्रों के अध्ययन से व्यक्ति की रुचि सांसारिकता से हट जाती है। तनाव की स्थिति सांसारिक पदार्थों के अभाव या सांसारिक गतिविधियों से ही उत्पन्न होती है। अतः स्वाध्याय व्यक्ति को तनाव से दूर ले जाता है। ईश्वर प्रणिधान समर्पण है।[26] प्रभु के प्रति समर्पण का भाव जिसमें हो जाएगा, वह व्यक्ति विषम परिस्थितियों में भी विचलित नहीं होगा। इस प्रकार यम–नियमों का पालन करने वाला व्यक्ति तनावग्रस्त नहीं होगा।

आसनों के अभ्यास से रोग दूर होते हैं[27] तथा शरीर मजबूत बनता है।[28] शारीरिक दृष्टि से यदि स्वस्थ होंगे तो सभी कार्य ठीक प्रकार कर पाएंगे। शरीर की तरफ से निश्चिंत होकर प्राणायाम का अभ्यास करके चित्त को नियंत्रित किया जा सकता है[29] तथा दीर्घायु प्राप्त होती है। स्वस्थ मन से प्रत्याहार कर इन्द्रियों को वश में किया जा सकता है।[30] धारणा, ध्यान, समाधि तो चित्त की उच्चतर स्थिति हैं, जहाँ विकारों के लिए स्थान ही नहीं है। ऐसा साधक मानसिक रूप से अस्वस्थ होगा ही नहीं।

महर्षि पतंजलि ने मनुष्य को अपने चित्त को प्रसन्न रखने के लिए चार प्रकार की भावनाओं का वर्णन किया है– मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा।[31] सुखी जनों से मित्रता, दुःखी जनों के प्रति करुणा, पुण्यशाली को देखकर प्रसन्न होना और पापियों को देखकर उपेक्षा का भाव धारण करने से व्यक्ति का चित्त खिन्न नहीं होता। मनुष्य अशुभ संस्कारों के कारण स्वभाव से ही दूसरे के सुख से दुःखी और दुःख से सुखी होता है। किसी पुण्यशाली को पुण्य करते देखकर भी वह प्रसन्न नहीं होता अपितु उसके पुण्य करने में उसके स्वार्थ पूर्ति के लक्ष्य को देखता है। वह पापी को दण्ड देने के लिए सर्वदा उद्यत रहता है, चाहे स्वयं भी वह उसी कोटि का पापी हो। इससे उसका चित्त खिन्न रहता है। सुखी तथा पुण्यात्मा को देखकर तनाव होने के कारण इसके निराकरण के लिए उसे चाहिए कि वह सुखी व्यक्ति को देखकर उससे मित्रवत् व्यवहार करे। क्योंकि मित्र का बुरा कोई नहीं चाहता। दुःखी व्यक्ति के दुःख में स्वयं कष्ट का अनुभव करने पर उसमें करुणा का भाव उत्पन्न होगा जो परोपकार के लिए प्रेरित करेगा। दुःखी के कष्ट को मिटा कर या कुछ कम करके उसके चित्त में प्रसन्नता का अनुभव होगा। पुण्यशाली को देखकर प्रसन्नतापूर्वक उसके पुण्य कार्यों की सराहना करे। वह यह सोचे कि इसने लोगों के भले के लिए कुछ सोचा तो है, यह मुझसे तो अच्छा है, अतः मैं इसका सम्मान करूँ। इन तीनो प्रकार की भावनाओं से चित्त की मलिनता दूर होगी। इनसे उत्पन्न होने वाले तनाव से हम बच जायेंगे। भावों का विशदीकरण होने पर मानसिक रूप से अव्यवस्थित होने की सम्भावना ही

नहीं रहती। अपने और पराये का भाव क्षुद्रहृदयों में पल्लवित और पुष्पित हुआ करता है, विशाल हृदयों में समत्व आ जाने से सभी प्राणी अपने परिवार के सदस्य प्रतीत होते है।[१२] ऐसे व्यक्तियों को मानसिक व्याधियाँ नहीं सतातीं।

अत: मानसिक रूप से स्वस्थ रहने के लिए अस्वास्थ्यकर कारण के स्वरूप को समझें। इसका कारण यदि सांसारिक पदार्थों की अनुपलब्धि है, तो सन्तोष करें। ईश्वर की इच्छा समझकर जो प्राप्त है, उसी में सन्तुष्ट रहने का प्रयास करें। यदि परिश्रम के बाद भी कार्य पूर्ण न हो तो उसको ईश्वरीय विधान समझें। अहिंसापूर्वक, सत्यनिष्ठापूर्वक, अस्तेयपूर्वक, ब्रह्मचर्यपूर्वक तथा त्यागपूर्वक आचरण करते हुए जीवन बिताएं। मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा के भाव को धारण करें। हम संसार में मोक्ष प्राप्ति के लिए आए हैं, यह विचारकर संसार से विरत रहने का प्रयास करें। यही दैनिक जीवन में अपनाने योग्य है। यही मानसिक स्वास्थ्य की प्राप्ति का एकमात्र मार्ग है। अत: प्रत्येक मनुष्य का यह कर्त्तव्य है कि योगाभ्यास को जीवन में ढालें और सहज रूप से परमात्मा की इस अमूल्य धरोहर को सुरक्षित रखते हुए जीवन के चरम लक्ष्य की प्राप्ति के लिए प्रयासरत रहें। यह जीवन की सफलता है, यही जीवन का सार है। ओ३म् शान्ति!

सन्दर्भ संकेत :—

१. सुश्रुत संहिता।

२. Stress and its management by Yoga- K.N. Udupa

३. योगो हि बहुधा ब्रह्मन् भिद्यते व्यवहारत:।
मन्त्रयोगो तपश्चैव हठोऽसौ राजयोगक:। योगतत्त्वोपनिषद्—१९

४. मन्त्रयोगो हठश्चैव लययोगस्तृतीयक:।
चतुर्थो राजयोग: स्यात् स द्विधा भाववर्जित:।। शिवसंहिता—५/१४

५. केवलं राजयोगाय हठविद्योपदिश्यते। हठप्रदीपिका—१/२

६. श्रवणं कीर्तनं विष्णो: स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्।। नारदभक्तिसूत्र

७. ब्रह्मण्याधाय कर्माणि संगंत्यक्त्वा करोति य:।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा।। —गीता ५/१०

८. तस्य वाचक: प्रणव:। योगसूत्र

९. स्वाध्यायो मोक्षशास्त्राणामध्ययनं प्रणव जपो वा। योग सूत्र (व्यास भाष्य)— २/३२

१०. आत्मा वाऽरे द्रष्टव्य: श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्य:। वृहदारण्यक—२/४/५

११. अनित्याशुचिदु:खानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या:।। योगसूत्र—२

१२. योग: कर्मसु कौशलम्—गीता—२/५०

१३. यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावंगानि।। योगसूत्र—२/२९

१४. अहिंसा सत्यास्तेय ब्रह्मचर्यापरिग्रहा: यमा:। योगसूत्र—२/३०

१५. अहिंसा सर्वथा सर्वदा सर्वभूतानामनभिद्रोह:। योग सूत्र (व्यास भाष्य)—२/३०

१६. सत्यं यथार्थे वाङ्मनसे, यथा दृष्टं यथाऽनुमितं
तथा वाङ्मनश्चेति। योगसूत्र (व्यासभाष्य)—२/३०
१७. स्तेयमशास्त्रपूर्वकं द्रव्याणां परत: स्वीकरणम्—तत्प्रतिषेध:। योगसूत्र २/३०
१८. गुप्तेन्द्रियस्योपस्थस्य संयम:। योगसूत्र (व्यास भाष्य)— २/३०
१९. विषयाणामर्जनरक्षणक्षयसंगहिंसादोषदर्शनादस्वीकरणमपरिग्रह:। योगसूत्र (व्यास भाष्य)— २/३०
२०. शौचसन्तोषतप: स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमा:। योगसूत्र—२/५२
२१. अद्भिर्गात्राणि शुद्धयन्ति मन: सत्येन शुद्धयति।
विद्या तपोभ्यां भूतात्मा बुद्धिर्ज्ञानेन शुद्धयति।। मनुस्मृति
२२. शौचात्स्वांगजुगुप्सापरैरसंसर्ग:। योगसूत्र— २/४०
२३. तृष्णाक्षय सुखस्यैते। योगसूत्र (व्यास भाष्य) २/४२
२४. तपोद्वन्द्वसहनम्। योगसूत्र (व्यासभाष्य)२/३२
२५. मोक्षशास्त्राणामध्ययनं प्रणव जपो वा। योगसूत्र (व्यासभाष्य)— २/३३
२६. समाधिसिद्धिरीश्वर प्रणिधानात्। योगसूत्र—२/३४
२७. आसनेन रूजो हन्ति — गोरक्षसंहिता— २/११
२८. आसनेन भवेद् दृढ़म्— घेरण्ड संहिता— १/१०
२९. चले वाते चलं चित्त निश्चले निश्चलं भवेत्।
योगी स्थाणुत्वमाप्नोति ततो वायुं निरोधयेत्।। ह.प्र.
३०. तत: परमावश्यतेन्द्रियाणाम्। योगसूत्र— २/५५
३१. मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदु:खपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्। योगसूत्र — १/३३
३२. अयं निज: परो वेति गणना लघु चेतसाम्।
उदार चरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्।। स्फुट

डॉ. ईश्वर भारद्वाज
प्रोफेसर एवं अध्यक्ष
मानव चेतना एवं योग विज्ञान विभाग
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय
हरिद्वार (उत्तरांचल)

वचस्तत्र प्रयोक्तव्यं यत्रोक्तं सफलं भवेत्।।
(निष्फल व निष्कारण वाणी का प्रयोग न करें)

अभाव मीमांसा

सृष्टि का प्रत्येक प्राणी अपूर्ण है वह किसी न किसी कमी अथवा अभाव का शिकार है, धन है तो ज्ञान नहीं हैं,ज्ञान है तो विनय नहीं है, विनय है तो मान नहीं है, मान है तो निरभिमान नहीं है। किसी के पास प्रसाद है तो प्रासाद नहीं है, भोग है तो योग नहीं है, दस रुपये वाले के पास सौ रुपये नहीं हैं सौ वाले के पास हजार, लाख, करोड़ तथा अरब नहीं हैं।[1] कोई भोजन के बिना भूखा है कोई वस्त्र के बिना नंगा है। इस प्रकार "नहीं है" "नहीं है" इस अनुगताकार निषेध कोटि से व्यक्त की जाने वाली पद्धति/विचारधारा का नाम ही अभाव है।

भारतीय दर्शन साहित्य के विवादास्पद विषयों में अभाव का महत्वपूर्ण स्थान है। इसके अस्तित्व अनस्तित्व तथा ज्ञान के बारे में विभिन्न विचार-धाराएं प्रचलित हैं। अभाव के विषय में जो सबसे पहला प्रश्न हमारे मन में उत्पन्न होता है और जिस पर भारतीय दर्शन में पर्याप्त विवेचन हुआ है वह यही है कि अभाव का स्वरूप क्या है? क्या अभाव सचमुच में कोई वस्तु है या केवल मानसिक प्रत्यय है।

अभाव जहाँ न्यायवैशेषिक तथा भाट्टमीमांसकों को अतिरिक्त पदार्थत्वेन अभिमत है वहीं प्रभाकर मीमांसक इसका दृढ़ता से खण्ड़न करते हैं और इसे अधिकरण तथा ज्ञानरूप सिद्ध करते हैं। न्यायवैशेषिक दर्शन अभाव की ग्राह्यता के लिए प्रत्यक्ष का समर्थन करते हैं। यद्यपि "दर्शपदार्थशास्त्र" के रचयिता चन्द्रमुनि ने अभाव की प्रत्यक्षग्राह्यता का खण्डन किया है किन्तु उत्तरवर्ती सभी नैयायिक एवं वैशेषिक आचार्यो ने इसकी प्रत्यक्ष ग्राह्यता में अविरोध माना है। वात्स्यायन ने भी न्यायभाष्य में **तदैवं सत:प्रकाशकं प्रमाणमसदपि प्रकाशयति** इस पंक्ति द्वारा प्रत्यक्षग्राह्यता स्वीकार की है। यद्यपि इसी सम्प्रदाय के प्रशस्तपाद जैसे कुछ आचार्य इसका खण्ड़न कर अनुमानगम्यता को ही वैधताप्रदान करते है।[2] जबकि भाट्ट मतवादी अभाव के प्रत्यक्ष के लिए भावग्राहक प्रमाणों से अतिरिक्त अनुपलब्धि नामक प्रमाण की कल्पना करते हैं। अद्वैतवेदान्ती पूर्वप्रतिपादित गुरुमीमांसक की भाँति अभाव को अधिकरण रूप तो मानते हैं परन्तु वे अभाव के ज्ञान की उपेक्षा नहीं करते प्रत्युत भाट्ट मीमांसकों की भाँति उनके ज्ञान के लिए अनुपलब्धि प्रमाण को स्वीकार करते हैं। बौद्धों ने अभाव की परमार्थसत्ता का विरोध करते हुए उसे मात्र संवृत्तिसत् माना है।

इस प्रकार उपर्युक्त विवरण से यह विज्ञात होता है कि अभाव की सत्ता तथा उसके ज्ञान को लेकर भारतीय दार्शनिकों के मध्य परस्पर सहमति का नितान्त संकट है जो कि चिन्तनीय है। अभाव को पदार्थ न मानने में आधुनिक विद्वानों की मनोदशा इस प्रकार है:- कुछ आधुनिक चिन्तक अभाव को इसलिए पदार्थ के रूप में अनभिमत मानते हैं क्योंकि वैशेषिक दर्शन के प्रणेता प्रमाणपुरुष महर्षि कणाद ने स्वयं अपने सूत्र में भावपदार्थ के अतिरिक्त अभाव की चर्चा नहीं की जैसा कि सूत्र से स्पष्ट है:-

धर्मविशेषप्रसूतात् द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवाय-
पदार्थानां साधर्म्यवैधर्म्यतत्वज्ञानान्निश्रेयसाधिगम:।।[3]

यहाँ यह ध्यातव्य है कि महर्षि कणाद के सूत्र की विशिष्ट विवेचना किये बिना उसके अभीष्ट निहितार्थ को समझे बिना यत्किञ्चिद् अवबोधन के आधार पर निष्कर्ष पर पहुँच जाना कि कणाद अभाव को नहीं मानते सर्वथा भ्रान्त एवं अस्वीकार्य होगा क्योंकि महर्षि ने भले ही स्पष्ट रूप से अभाव

शब्द का उल्लेख कर अभावत्वेन अभाव को पदार्थ न कहा हो, लेकिन जहाँ द्रव्य गुण कर्म सामान्य विशेष तथा समवाय का उल्लेख कर इनके साधर्म्य और वैधर्म्य के ज्ञान से निःश्रेयस् प्राप्ति का निरूपण करते हैं वहाँ वैधर्म्य पद में अभाव की स्पष्ट भावना अभिप्रेत है अन्यथा वैधर्म्य शब्द का निर्वचन कर पाना कदापि एवं कथमपि संभव नहीं हो सकता क्योंकि एक से अधिक में रहने वाले समान धर्म को ही साधर्म्य कहते हैं और न रहने वाले धर्म को वैधर्म्य कहते हैं जैसे यावत् घंटों में समान रूप से रहने वाले घटत्व को घटों का-साधर्म्य कहते हैं और पटादिकों में नहीं रहने के कारण उसे उसका वैधर्म्य मानते हैं इस नहीं रहने का नाम ही अभाव है। अतः यह कहना कि वैशेषिक सम्प्रदाय के आदि आचार्य अभाव को नहीं मानते सर्वथा अविवेकपूर्ण एवं असंगत है। लक्षणावली में उदयनाचार्य ने भी अभाव को "नञर्थप्रत्ययविशेष" तथा निषेधार्थक प्रतीत का विषय माना है।[4]

न्यायवैशेषिक परम्परा में वस्तु की सत्ता भाव और अभाव इन दो रूपों में कल्पित है जिसमें द्रव्य,गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय ये भावपदार्थ विध्यात्मक प्रतीति के विषय हैं। जैसे यहाँ घड़ा है (अत्र घटोऽस्ति)यह एक विध्यात्मक प्रतीति है इसका विषय घट है, इसी प्रकार यहाँ घट नहीं है। (अत्र घटो नास्ति) यह एक निषेधात्मक प्रतीति है इसका विषय है घटाभाव। इस घटाभावात्मक ज्ञान को निर्विषयक नहीं कहा जा सकता अन्यथा विध्यात्मक ज्ञान की भी निर्विषयकत्वापत्ति हो जायेगी और साथ ही बौद्ध विज्ञानवादियों के निरालम्बनवाद का समर्थन भी हो जायेगा जो कथमपि स्वीकार्य नहीं है, और यदि "अत्र घटो नास्ति" इस ज्ञान का विषय घटाभाव न मानकर कथञ्चित् घट मान लें तो घटोस्ति ,घटो नास्ति इन दोनों प्रतीतियों में कोई भेदक तत्व नहीं स्थापित हो सकेगा जिससे सर्वाधिक अननुकूल समस्या यह होगी कि जिस प्रकार घट अस्तित्व के बोधनेच्छा से घटोऽस्ति यह व्यवहृतव्य है उसी प्रकार घटो नास्ति यह भी व्यवहरणीय हो जायेगा जो पूर्णतः अशास्त्रीय है इसलिए घटो नास्ति इस प्रतीति का विषय घट न होकर घटाभाव ही है।

यहाँ यह विश्लेषणीय है कि अभाव की वाह्यार्थता का सबसे बड़ा पक्षधर न्यायवैशेषिक है किन्तु न्याय वैशेषिक दर्शन में भी इसके स्वरूप के विषय में एक क्रमिक विकास दृष्टिगोचर होता है, यद्यपि अभाव की परिकल्पना न्याय और वैशेषिक के आरम्भिक ग्रंथों से ही मिलना आरम्भ हो जाती है परन्तु महर्षि गौतम,महर्षि कणाद आदि पूर्वाचार्यों ने अपने आरम्भिक ग्रंथों में न तो अभाव को शब्दशः पदार्थान्तर का दर्जा प्रदान किया और न ही कोई ऐसा व्यवस्थित साक्ष्य प्रस्तुत किया जिससे इसको एक वाह्यार्थ स्वीकार करने में अनापत्ति हो सके।

अभाव की वाह्यार्थता के सन्दर्भ में प्रथम संकेत उद्योतकर के न्यायवार्तिक से प्राप्त होता है।[5] इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष की व्याख्या करते हुए उद्योतकर ने प्रस्तुत किया है कि समवाय और अभाव को विशेषण विशेष्यभाव के द्वारा प्रत्यक्षतः ग्रहण किया जाता है।[6] अभाव के इन्द्रियों द्वारा ग्रहण किये जाने का तात्पर्य है कि अभाव एक वाह्यार्थ है। उद्योतकर के कथन् की व्याख्या करते हुए भामतीकार वाचस्पतिमिश्र अभाव के अपने आधार से पृथक् वस्तु होने के लिए युक्तियाँ प्रतिपादित करते हैं। जयन्त ने अभाव की वाह्यार्थता का विस्तृत विवेचन किया है।[7]

यद्यपि पूर्वाचार्यों ने अभाव शब्द का आनुपूर्वी अभिधान कर इसको पदार्थान्तर के रूप में प्रस्तुत नहीं किया जैसा कि पहले कहा जा चुका है लेकिन फिर भी उनकी अभिमत भावना में तथा प्रतिपादित व्याख्या में अभाव पदार्थ की पार्थक्येन प्रसिद्धि संकेतित होती है जैसा कि कणाद ने अभाव के पदार्थत्व की चर्चा तो नहीं की लेकिन उसके भेदों का तार्किक रूप से उल्लेख किया जो कहीं उनके

अभावपदार्थत्व की संकल्पना को इंगित करता है। न्यायदर्शन के एक अन्य व्याख्याकार न्यायकन्दलीकार श्रीधराचार्य ने अभाव को पृथक् पदार्थ की मान्यता प्रदान की है, उन्होंने अभाव को पृथक् पदार्थत्व नहीं स्वीकार करने वालों पर टिप्पणी करते हुए कहा - यदि अभाव का पृथक् पदार्थत्व नहीं स्वीकार किया जायेगा तो द्रव्यादि छः पदार्थों का द्रव्य रूप में गुण के रूप में, कर्म के रूप में, सामान्य के रूप में, विशेष के रूप में तथा समवाय के रूप में भेद कर पाना कथमपि संभव नहीं हो सकेगा। क्योंकि इसका विभाजन अभाव पर ही आधारित है, जैसे - द्रव्य गुणादि पदार्थों से भिन्न है क्योंकि इसका जो स्वरूप है उसका गुणादिपदार्थों में अभाव है इसी प्रकार गुण, द्रव्य तथा कर्मादिपदार्थों से भिन्न है क्योंकि इसका जो स्वरूप है वह द्रव्य तथा कर्मादि पदार्थों में नहीं है। अतः आचार्यों द्वारा अभाव की पृथक् पदार्थ के रूप में जो संकल्पना की है वह सार्थक तथा युक्तियुक्त है।

यद्यपि कुछ विद्वानों का यह भी मन्तव्य है कि महर्षि कणाद ने अपने कतिपय सूत्रों "कारणाभावात्कार्याभाव:" (वै0 सू0 1.2.1) इत्यादि में अभाव शब्द का समावेश किया है जो सिद्ध करते हैं कि उन्हें अभाव की वाह्यवस्तुसत्ता स्वीकार्य थी। इसी प्रकार महर्षि गौतम ने भी अपने कुछ सूत्रों "असत्यर्थे नाऽभाव इति चेत्? न अन्यलक्षणोपपत्ते: (न्या0सू0 2.2.9)आदि में अभाव का शब्दशः आनुपूर्वी उल्लेख किया है।

अभाव के सन्दर्भ में एक और बिन्दु यह ध्यातव्य है कि कोई भी वाक्य चाहे वह विध्यात्मक हो या फिर निषेधात्मक किसी न किसी वास्तविकता को व्यक्त करता है जिस प्रकार विधेयात्मक वाक्य वस्तुसत्ता की स्थापना करते हैं उसी प्रकार निषेधात्मक वाक्य भी वस्तुसत्ता का ही उद्घाटन करते हैं। दृष्टान्ततः जब हम यह कहते हैं कि यह घड़ा नहीं है तो हम जाने- अनजाने अभाव को सिद्ध कर रहे होते हैं। अर्थात् इदन्त्वेन उद्दिष्ट इस वस्तु में घट का अभाव है यह स्थापित करते हैं। किसी वस्तु का किसी स्थान पर उपस्थित न होना उस वस्तु का वन्ध्यापुत्र, शशश्रृंग तथा खपुष्प की तरह नितान्त असत् होना नहीं है अपितु तद्देशावच्छेदेन तत्कालावच्छेदेन उसके भावरूप का निषेध है इसी निषेध का अभिप्राय अभाव हैं।[8] इसका समर्थन निम्न पंक्ति से होता है:-

Judgements form no Exception to this rule.

(I.P.S. Vol.1.138)

अभाव के पृथक् पदार्थत्व की सिद्धि के प्रसंग में पं0 गोपीनाथ कविराज कृत **GHBNV** पुस्तक की निम्न पंक्तियाँ भी विशेष रूप से अवलोकनीय हैं:-

It was under a mrtaphysical rather then a logical that ABHAWA had to be postuleted in this system and the necessity thus felt two fold arising (a) from the fundamental assumption of the school that moksha is really negative and (b)from its doctrine of asat-Karsyavada.[9]

अभाव की सिद्धि के सन्दर्भ में यद्यपि प्रतिष्ठापक पूर्वाचार्यों द्वारा मात्र सांकेतिक निर्वचन ही प्राप्त होता है जबकि उत्तरवर्ती नैयायिकों एवं वैशेषिकों ने अभाव को सप्तम पदार्थ के रुप में स्पष्टतया स्थापित किया है। डा0 डी0एन0 शास्त्री केअनुसार अभाव की पदार्थ के रुप में प्रथम स्वीकृति शिवादित्य की सप्त पदार्थी में हुई।[10] जबकि पॉटर ने प्रथम स्वीकृति चन्द्रमति के 'दर्शपदार्थशास्त्र' में सिद्व की है।[11] चन्द्रमति शिवादित्य

से लगभग 4 या 5 सौ वर्ष पूर्व में हुए हैं अतः स्पष्ट है कि शिवादित्य से पहले भी अभाव को पृथक् पदार्थ का कलेवर मिल चुका था। बाद के सभी वैशेषिक प्रकरण ग्रंथों (तर्कसंग्रह, न्यायसिद्धान्तमुक्तावली, तर्ककौमुदी, तर्कामृत, प्रमाण मंजरी) आदि में भी अभाव को पृथक् की संज्ञा प्राप्त हो गयी है। न्याय के प्रकरण ग्रंथ तर्कभाषा में प्रतिपादित अर्थ नामक प्रमेय में छः भावपदार्थों को गिनाया गया है और निषेध रूप पदार्थ के रूप में सप्तम अभाव पदार्थ को भी परिगणित किया गया है।[12] वरदराज ने भी "तार्किकरक्षा" में अभाव के पृथक् पदार्थत्व की सप्रमाण पुष्टि की है।

भारतीय दर्शन वाङ्मय में अभाव का लक्षण आचार्यों ने विविधरूपों में उद्घाटित किया है यद्यपि अभाव का प्रतीकात्मक परिचय एवं लक्षण कणाद तथा अक्षपाद की प्रारम्भिक परम्परा में प्राप्त होता है लेकिन उसका विधिवत् लक्षण जो उसे भावपदार्थों से व्यतिरिक्त स्वयं की पहचान दिलाये ऐसा कार्य सर्वप्रथम शिवादित्य की सप्तपदार्थी में ही दृष्टिगत होता है। शिवादित्य ने अभाव की परिभाषा **"प्रतियोगिज्ञानाधीन ज्ञानोऽभावः"** इन शब्दों में की अर्थात् जिसका ज्ञान उसके प्रतियोगी के ज्ञान पर आधारित होता है उसे अभाव कहते हैं। न्यायसिद्धान्तमुक्तावलीकार आचार्य विश्वनाथपञ्चानन ने **"द्रव्यादिषट्कान्योन्याभावः"**[14] इस रूप में अभाव को परिभाषित किया जिसका निहितार्थ है - द्रव्यादि छहों पदार्थों का अन्योन्याभावत्व। जयन्तभट्ट ने न्याय मंजरी के प्रथम भाग में अभाव को व्याख्यायित करते हुए कहा कि अभाव वह पदार्थ है जो नास्ति इस प्रकार के ज्ञान का गम्य हो। लक्षणावलीकार आचार्य उदयन ने अभाव का स्वरूप **'नञर्थप्रत्ययविषयोऽभावः'** इस प्रकार कहा जिसका प्रतिपाद्य है कि अभाव वह है जो नञर्थक ज्ञान का विषय हो। आचार्य श्रीधर ने न्यायकन्दली ग्रंथ में **"अभावस्यतु प्रतिषेधस्वभावस्य स्वरूपमेव यस्यायं पतिषेधः स्यात्तदधीनम् अतस्तत्पतिषेध्यमन्तरेण तदभावस्यस्वरूपानन्तराभावात्"** इस तरह अभाव को व्याख्यायित किया है। अर्थात् अभाव तो किसी भाव पदार्थ का प्रतिषेधरूप है अतः उसको जानने के लिये उस भाव पदार्थ को भी जानना आवश्यक है जिसका वह प्रतिषेध है क्योंकि भाव के प्रतिषेध को छोड़कर अभाव का कोई दूसरा स्वरूप ही नहीं है। वादिवादीश्वर ने अभाव को समवाय से भिन्न असमवायी कहा **समवायान्योऽसमवाय्यभावः**।[15] माध्वाचार्य ने भी सर्वदर्शनसंग्रह में इसी क्रम को बढ़ाते हुए अभाव को **"असमवायत्वे सत्यसमवायित्वं,**[16] इन शब्दों में अभिव्यक्त किया है। नव्य न्याय के जन्मदाता आचार्य गंगेशोपाध्याय ने **"अथाभावो भावात्मैव"**[17] इन शब्दों द्वारा अभाव को परिष्कृत किया है।

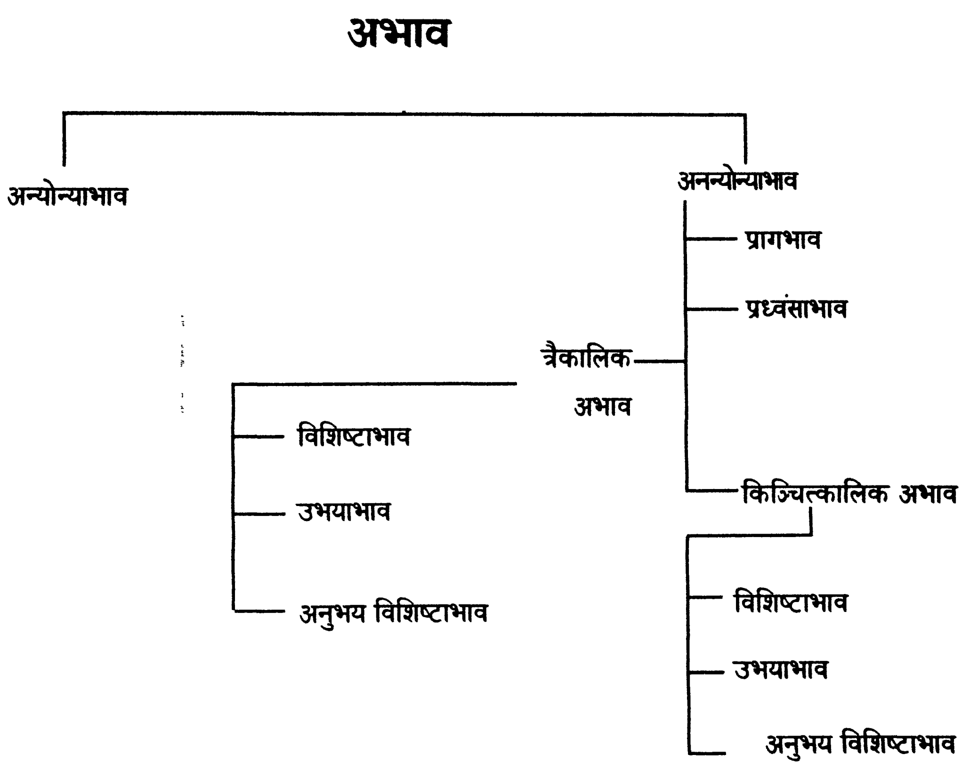
वस्तुतः अभाव का निष्कृष्ट लक्षण है **"निषेधमुखप्रमाणगम्यत्वं"** जिसकी व्युत्पत्ति है - **निषेधः निषेधार्थकः नञ् शब्दः मुखं अभिलापकः यस्य तच्चेदं प्रमाणं प्रत्ययः तेन गम्यत्वं बोध्यत्वं वेद्यत्वं वा।** इस व्युत्पत्ति के अनुसार उपलब्ध अर्थ है - "नञ् शब्द से अभिलाप किये जाने वाले ज्ञान का विषय होना। जैसे - **इदं इह नास्ति, इदं - इदं न भवति**, इस प्रकार के ज्ञान निषेधमुखप्रत्यय हैं, इन प्रत्ययों में नञ् शब्द से जिस पदार्थ का उल्लेख होता है वही अभाव है।"[18]

विध्यात्मक और निषेधात्मक प्रतीतियों के वैविध्य के परिणामस्वरूप यथा भावात्मक और अभावात्मक पदार्थों का वर्गीकृत रूप दृष्टिगत होता है और भाव पदार्थों में भी प्रतीतिभेद से यथा द्रव्यगुणदिकों का विभक्तरूप प्रस्तुत होता है, ठीक उसी प्रकार प्रतीति वैचित्र्य के कारण अभावों में भी अवान्तर भेद स्वीकार किया गया है। अभावों को प्रथमतः दो भागों में विभक्त किया है अन्योन्याभाव और अनन्योन्याभाव। पूर्ववर्ती आचार्यों ने अन्योन्याभाव को परस्पराभाव तथा अनन्योन्याभाव को संसर्गाभाव शब्द से सम्बोधित किया है। अन्योन्याभाव भेदरहित है जबकि अनन्योन्याभाव सामान्यतः तीन भागों में विभाजित किया गया है।

1 – प्रागभाव 2 – प्रध्वंसाभाव 3 – अत्यन्ताभाव।

वाचस्पति मिश्र ने चार ही प्रकार के अभाव स्वीकार किये, उन्होंने पहले अभाव को दो वर्गों में विभक्त कर पुनः संसर्गाभाव के अन्तर्गत प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव तथा अत्यन्ताभाव को ग्रहण किया, परवर्ती आचार्यों जिसमें जयन्त तथा श्रीधर शामिल हैं ने वाचस्पति के वर्गीकरण का ही अनुकरण किया। इस सन्दर्भ में एक बात विशेषरूप से ध्यातव्य है कि न्यायमंजरीकार जयन्त भट्ट ने मुख्यतः प्रागभाव तथा ध्वंसाभाव इन दो अभावों को स्वीकार करते हुए 'नप्रागभावादन्ये तु भिद्यन्ते परमार्थतः'[19] इस कथन के द्वारा अन्योन्याभाव तथा अत्यन्ताभाव को प्रागभाव के अन्तर्गत समाहित किया है।

निष्कर्षतः न्यायवैशेषिक सम्प्रदाय में प्रायः चार प्रकार के अभाव प्राप्त होते हैं भाट्टमीमांसक भी इसी विभाजन को मान्यता प्रदान करते हैं। यहाँ प्रायः शब्द कहकर कुछ आचार्यों द्वारा संसर्गाभाव के चार भेदों के सिद्धान्त को संकेतित किया गया है। जो इस प्रकार हैं – 1 – प्रागभाव 2 – प्रध्वंसाभाव 3 – त्रैकालिक अभाव 4 – किञ्चित् कालिक अभाव। पुनः त्रैकालिक और किञ्चित् कालिक अभाव को विशिष्टाभाव और अनुभय विशिष्टाभाव के रूप में वर्गीकृत किया है।



अन्योन्याभाव :– तादात्म्य सम्बन्ध से अवच्छिन्न प्रतियोगिता वाले अभाव को अन्योन्याभाव कहते हैं।[20] अर्थात् जिस अभाव के प्रतियोगी की स्थिति तादात्म्य सम्बन्ध पर निर्भर करती है वह अभाव अन्योन्याभाव है। अन्योन्याभाव का अर्थ 'अन्योन्यत्व' तादात्म्य का विरोधी अभाव। जो अभाव अपने आश्रय में अपने

प्रतियोगी के अन्योन्यत्व तादात्म्य का विरोधी होता है वह अभाव अन्योन्याभाव है जैसे गुण में द्रव्य का भेद रहता है द्रव्य का तादात्म्य नहीं रहता अतः अपने प्रतियोगी के तादात्म्य का विरोधी होने से गुण में रहने वाला द्रव्य भेद द्रव्य का अन्योन्याभाव है।

गुणो द्रव्यं न (गुण द्रव्य नहीं है) इसका आशय है कि गुण ही गुण हो सकता है और कोई भी पदार्थ गुण नहीं हो सकता क्योंकि गुण का काम गुण ही कर सकता है और कोई नहीं, अतः गुण का तादात्म्य संबंध गुण में ही है और किसी में नहीं है सुतरां द्रव्य में भी नहीं है इसलिए तादात्म्य सम्बन्ध से गुण द्रव्य में नहीं है और इसी तरह तादात्म्य संबंध से द्रव्य गुण में नहीं है इसी अन्योन्य या परस्पर में न होने का नाम अन्योन्याभाव है। अन्योन्याभाव को मान्यता प्रदान करने से द्रव्यादि षट् भाव पदार्थों के मध्य परस्पर भेद स्थापित हो सका है अन्यथा द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय पदार्थों के मध्य मिथः भेद स्थापित कर द्रव्य गुण कर्मादि के रुप में पृथक् पदार्थत्व की स्थापना सर्वथा असम्भव है। आचार्य श्रीधर ने न्याय कन्दली में अन्योन्याभाव की नित्यता तथा एकता प्रतिपादित की है अतः अन्योन्याभाव आधारभूत वस्तु के समाप्त हो जाने पर भी सामान्य के सदृश दूसरी वस्तु में आभासित होता रहता है अतः इसकी नित्यता सुतरां सिद्व है। हाँ सामान्य के सापेक्ष इसमें विभेद यह है कि जहाँ सामान्य का ज्ञान मात्र स्वाश्रयज्ञान की अपेक्षा करता है। वहाँ अन्योन्याभाव का ज्ञान उसके प्रतियोगी के ज्ञान की भी अपेक्षा करता है।

प्रागभाव : – प्रागभाव प्राक् + अभाव इन दो शब्दों के योग से निष्पन्न एक यौगिक शब्द है जिसका अभिप्राय किसी भी वस्तु की उत्पत्ति से पहले उस वस्तु के अभाव से है। यहाँ प्राक् शब्द पश्चात् के प्रति सापेक्ष है अर्थात् पहले वस्तु का अभाव होना लेकिन पश्चात् वस्तु की उत्पत्ति होने के कारण उसका अभाव न होना इसी का नाम प्रागभाव है। जैसे जिस सुसंस्कृत कपाल के योग से घट बनता है उस कपाल में घटोत्पत्ति के पहले घट का प्रागभाव है किन्तु कपाल संयोजना से घट निर्मित होने के अनन्तर उसका प्रागभाव समाप्त हो जाता है। प्रागभाव का एक अनन्य वैशिष्ट्य है कि यह अपने प्रतियोगी के प्रति कारण होता जैसे पट प्रागभाव का प्रतियोगी जो पट उसके प्रति पट प्रागभाव कारणत्वेन अभिमत हैं, यह अभाव अनादिकाल से चला आ रहा है। लेकिन जब-जब प्रतियोगी की उत्पत्ति होती है तब-तब यह अभाव समाप्त हो जाता है। अन्यथा कार्य की उत्पत्ति ही असंभव हो जायेगी प्रतियोगी वस्तु की उत्पत्ति ही प्रागभाव का विनाश है। अन्नंभट्ट ने उक्त अभाव की परिभाषा अनादि और सान्त इन शब्दों से की।[21]

प्रध्वंसाभाव : – यह अभाव भी प्रध्वंस तथा अभाव इन दो शब्दों के मेल से बनता है जिसका आशय एक ऐसे अभाव से है जो ध्वंस होने से उत्पन्न होता है। किन्तु विनष्ट नहीं होता अर्थात् प्रध्वंसाभाव की उत्पत्ति तो होती है[22] लेकिन इसका विनाश नहीं होता। जैसे – जलाहरण समर्थघट पर दण्ड प्रहार करने से घट का टूटकर/फूटकर मिट्टी में मिलना ही घट का प्रध्वंस होना है एतत् घट जन्य जो अभाव है वही प्रध्वंसाभाव है। पुनः इस प्रध्वंस का प्रध्वंस संभव नहीं है इसलिये प्राच्यपदार्थशास्त्रियों ने विविध विशिष्ट स्थलों पर यह कहा है कि जिस अभाव की उत्पत्ति हो किन्तु अनन्तकाल तक कभी भी नाश न हो वह अभाव है प्रध्वंसाभाव। इसी तथ्य को पुष्ट करते हुए तर्कसंग्रहकार अन्नंभट्ट ने इसे **सादिरनन्तः प्रध्वंसः**[23] इस रूप में अभिव्यक्त किया।

प्रध्वंस का प्रध्वंस क्यों नहीं स्वीकार करते इस जिज्ञासा का समाधान इस रूप में करना चाहिए कि प्रध्वंस का भी यदि प्रध्वंस हो तो उसके प्रतियोगी भाव वस्तु का पुनः अस्तित्व होना चाहिए।

अत्यन्ताभाव : – भूत, वर्तमान और भविष्य इन तीनों कालों में रहने वाले अभाव का नाम अत्यन्ताभाव है यह अत्यन्त तथा अभाव इन शब्दों का संयुक्त रुप है जिसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार है – **अन्तम् अभावम्, अतीतः अत्यन्तः स चासौ अभावः अत्यन्ताभावः** अर्थात् जिस अभाव का कभी अभाव न हो। जैसे – शिलाखण्ड में ज्ञान का अभाव। शिलाखण्ड में ज्ञान का अवस्थान कभी किसी काल, किसी देश, तथा किसी परिस्थिति में नहीं होता उसमें ज्ञान का सर्वथा अभाव रहता है अत: शिलाखण्ड में रहने वाला ज्ञानाभाव का अत्यन्ताभाव है। अत्यन्ताभाव के दो भेद दृष्टिगत होते है: – 1 – व्याप्यवृत्ति, 2 – अव्यांप्यवृत्ति। व्याप्यवृत्ति अत्यन्ताभाव उसे कहते हैं जो अपने आश्रय के सम्पूर्ण भाग में व्याप्त होकर रहता है जिसे शास्त्रीयभाषा में इस प्रकार कह सकते हैं – जिसके आश्रय में उसका प्रतियोगी कथमपि न रहता हो यह अभाव व्याप्यवृत्ति अभाव है जैसे शिलाखण्ड में ज्ञानाभाव। ज्ञानाभाव अपने आश्रय शिलाखण्ड के सम्पूर्ण भाग में सदैव रहने तथा उसके प्रतियोगी ज्ञान के शिलाखण्ड में कथमपि त्रिकाल में भी न रहने से व्याप्यवृत्ति है, जबकि गुणाभाव द्रव्य में अव्याप्यवृत्ति अभाव है क्योंकि पृथ्वी आदि द्रव्य में उत्पत्ति कालावच्छेदेन गुणाभाव होता है और स्थितिकालावच्छेदेन गुण होता है अत: द्रव्य में गुणाभाव अव्याप्यवृत्ति अभाव है। इसी प्रकार वृक्ष के सम्पूर्ण भाग में न रहकर केवल मूलावच्छेदेन भाग में रहता है अत: एक ही वृक्ष के एक भाग में कपिसंयोग का अभाव रहने पर भी दूसरे भाग में कपिसंयोग के रहने से यह अभाव अव्याप्यवृत्ति अभाव होता है।

सन्दर्भसंकेत

1 – (क) निःस्वोवष्टि शतं शती दशशतं लक्षं सहस्राधिपो,
लक्षेश:क्षितिपालतां क्षितिपतिश्चक्रेशतां वाञ्छति।
चक्रेश: सुरराजतां सुरपति: ब्रह्मास्पदं वाञ्छति,
ब्रह्मा शैवपदं शिवो हरिपदं ह्याशावधिंकोगत:।। नीतिश्लोक.......

(ख) क्वचिद् भूमौ शय्या क्वचिदपि च पर्यंक शयनम्
क्वचिच्छाकाहारी क्वचिदपि च शाल्योदनरुचि:।
क्वचित्कन्थाधारी क्वचिदपि च दिव्याम्बरधर:,
मनस्वी कार्यार्थी न गणयति दु:खं न च सुखम्।।

भर्तृहरि नीतिशतकम्...........

2: अभावोऽप्यनुमान एव – प्रशस्तपादभाष्यम्
3. वैशेषिक सूत्र 1.1.4
4 नञर्थप्रत्ययविषयोऽभाव: – लक्षणावली पृ0 30
5. Critique of Indian Realism- Pg.398
6. न्यायवार्तिक
7. भारतीय दर्शन की प्रमुख समस्याएं – डा0 महेश भारती
8. नास्तीति ज्ञानगम्यत्वं – न्यायमंजरी भाग एक
9. G.H.B.N.V.-Pg-25
10. Critique of Indian realism Pg.117.398
11. Encyclopedia of Indian Philosophy Vol II. P.143

12. भारतीय दर्शन की प्रमुख समस्याएं - डा0 महेश भारती
13. सप्तपदार्थी पृष्ठ62
14. न्यायसिद्धान्त मुक्तावली
15. मानमनोहर पृष्ठ 134
16. सर्वदर्शन संग्रह
17. तत्वचिन्तामणि
18. भारतीय दर्शन की प्रमुख समस्याएं (भूमिका) डा0 महेश भारती
19. न्याय मंजरी, भाग एक
20. क) तादात्म्य संबन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकोऽन्योन्याभाव: - तर्कसंग्रह
ख) अन्योन्याभावत्वं तादात्म्यसंबन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावत्वम्। न्यायसिद्धान्तमुक्तावली।
21. अनादिसान्त: प्रागभाव:। तर्कसंग्रह / सप्तपदार्थी।
21. जन्याभावत्वं ध्वंसत्वम् न्या0सि0 मु0 पृ0 80
22. क) तर्कसंग्रह
ख) सादिरनन्त: प्रध्वंसाभाव: - सप्तपदार्थी
23. अभावविरहात्मत्वं वस्तुन. प्रतियोगिता
24. त्रैकालिक संसर्गावच्छिन्नप्रतियोगिताकोऽत्यन्ताभाव: - तर्कसंग्रह

डॉ0 शिव शंकर मिश्र
संस्कृत विभागाध्यक्ष
राजकीय स्नातकोत्तर
महाविद्यालय, ऋषिकेश,
फोन: - 9412436503

काव्य शास्त्र विनोदेन,
कालो गच्छति धीमताम्।
व्यसनेन च मूर्खाणाम्
निद्रया कलहेन वा।।

(बुद्धिमान् लोग अपने समय को साहित्य, संगीत कला आदि में व्यतीत करते है किन्तु मूर्ख जन विविध प्रकार के गन्दे कार्यो, निद्रा एवं लड़ाई झगड़ों में बिताया करते हैं।)

हितोपदेश

कालिदास के रघुवंश में नामकरण का युक्त्यौचित्य

वस्तुत: सभी साहित्यकार अपनी कृतियों तथा उनमें निबद्ध पात्रों के नाम साभिप्राय रखते हैं जिससे उनका नाम सार्थक्य सिद्ध होता है। कालिदास ने अपनी कृतियों के नाम तो सार्थकतापूर्ण रखे ही हैं, यथा रघुवंश, कुमारसंभव, मेघदूत, ऋतुसंहार, मालविकाग्निमित्र, विक्रमोर्वशीयम् तथा अभिज्ञान शाकुन्तलम्। इनमें भी प्रमुख पात्रों के नाम अत्यंत सौद्देश्य रखे हैं, और उनके नाम रखने की युक्तियाँ भी दी हैं। यह तथ्य रघुवंश के नामों में अत्यधिक स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है।

1. प्रथम सर्ग में ही सुदक्षिणा के लिये कहा गया है कि 'तस्य दाक्षिण्यरूढ़ेन नाम्ना मगधवंशजा। पत्नी सुदक्षिणेत्यासीदध्वरस्येव दक्षिणा। 1.31 उस राजा की जैसे यज्ञ की पत्नी दक्षिणा प्रसिद्ध है वैसे ही मगधवंश में सुदक्षिणा नाम की पत्नी थी जो संसार में अपनी उदारता (दाक्षिण्य) के लिये प्रसिद्ध थी। सुदक्षिणा यथा नाम तथा गुण थी। 'सुदक्षिणा' का अर्थ ही है, सुंदर दक्षिणा देने वाली अत: दक्षिणा (उदार या दूसरों के मनोनुकूल) होने के कारण उसका 'सुदक्षिणा' नाम अत्यंत युक्तियुक्त है।

2. दिलीप ने अपने पुत्र का नाम 'रघु' यही सोचकर रखा कि यह बालक शास्त्रों के पार और युद्ध में शत्रुओं के भी पार चला जायेगा क्योंकि वह अर्थ के जानने वाले थे। अत: 'रघि' धातु का अर्थ जाना समझकर पुत्र का नाम रघु रखा, कवि कुलगुरु कालिदास ने इस बात को इस प्रकार प्रकट किया है 'श्रुतस्य यायादयमन्तमर्भकस्तथा परेषां युधि चेति पार्थिव:।

   अवेक्ष्य धातोर्गमनार्थमर्थविच्चकार नाम्ना रघुमात्मसंभवम्।। (3,21)

3. इसी प्रकार कामधेनु गाय की पुत्री का भी नाम नन्दिनी है, अर्थात् जो प्रसन्न हो और प्रसन्न करे और नन्दिनी गाय अपने नाम के अनुरूप दिलीप और सुदक्षिणा की सेवा से प्रसन्न होती है तथा राजा को मनवांछित पुत्र का वर देकर प्रसन्न करती हैं, यथा

   ''भक्त्या गुरौ मय्यनुकम्पया च प्रीताऽस्मि ते पुत्र! वरं वृणीष्व।
   न केवलानां पयसां प्रसूतिमवेहि मां कामदुधां प्रसन्नाम्।।। (2.63)

   'सन्तानकामाय तथेति कामं राज्ञे प्रतिश्रुत्य पयस्विनी सा।
   दुग्ध्वा पय: पत्रपुटे मदीयं पुत्रोपभुङ्क्ष्वेति तमादिदेश।। (2.65)

रघु के पुत्र अज के लिए कहा गया है कि रघु की रानी ने पुत्र ब्राह्म मुहूर्त में उत्पन्न किया था अत: पिता ने ब्रह्म के ही नाम पर अपने पुत्र का नाम अज रखा,

'ब्राह्मे मुहूर्ते किल तस्य देवी कुमारकल्पं सुषुवे कुमारम्।

अत: पिता ब्रह्मण एवं नाम्ना तमात्मजन्मानमजं चकार।। (5.36)

अत: पुत्र का नाम अज रखने में अत्यत्न औचित्यपूर्ण युक्ति है। इसी प्रकार गन्धर्वपति 'प्रियदर्शन' (अर्थात् जो देखने में प्रिय है) के पुत्र का नाम प्रियंवद है जो यथा नाम तथा गुण है अर्थात् प्रिय बोलने वाला है।

'अवेहि गन्धर्वपतेस्तनूजं प्रियंवदं मां प्रियदर्शनस्य'।।(5.53)

ऐसे ही इन्दुमती के स्वयंवर में आये मगध के राजा यथार्थ नाम परंतप हैं 'परंतप' अर्थात् शत्रुओं को तपाने वाले जिसे कालिदास ने इन शब्दों में प्रकट किया है,

'राजा प्रजारञ्जनलब्धवर्ण: परन्तपो नाम यथार्थनामा ।। (6.21)

वहीं पर अज का परिचय देते हुए ककुत्स्थ के विषय में कहा गया है,

'इक्ष्वाकुवंश्य ककुदं नृपाणां ककुत्स्थ इत्याहितलक्षणोऽभूत्।
काकुत्स्थशब्दं यत उन्नतेच्छा: श्लाध्यं दधत्युत्तरकोसलेन्द्रा: ।। (6.71)
महेन्द्रमास्थाय महोक्षरूपं य: संयति प्राप्तपिनाकलील: ।
चकार बाणैरसुराङ्गनानां गण्डस्थली: प्रोषित पत्रलेखा: ।। (वही .72)

'ककुत्स्थ' अर्थात् बैल के कन्धे' क्योंकि इक्ष्वाकु वंश के राजा ने इन्द्र रूपी बैल के कन्धे पर चढ़कर युद्ध किया था अत: वे कहलाये ककुत्स्थ और उनके वंशज काकुत्स्थ' अत: अब यह 'नृपाणां ककुदं श्रेष्ठ:' इस अर्थ का वाचक हो गया है अत: उन्नति की इच्छा वाले उत्तरकौशल के राजा काकुत्स्थ कहलाते हैं। अत्यन्त औचित्यपूर्ण युक्ति है। अज के पुत्र का नाम दशरथ हुआ इसके लिए कालिदास की अत्यन्त सारगर्भित युक्ति है कि

'दशरश्मिशतोपमद्युतिं यशसा दिक्षुदशस्वपि श्रुतम्।
दशपूर्वरथं यमाख्यया दशकण्ठारिगुरुं विदुर्बुधा: ।।(8.29)

दस सौ किरणों वाले सूर्य के समान और दश दिशाओं में जिनका यश प्रसिद्ध था और जो दस कण्ठ वाले के शत्रु के पिता जिसको दशरथ कहते थे। राम के इस नामकरण के लिए कवि की युक्ति है कि

'राम इत्यभिरामेण वपुषा तस्य चोदित:।
नामधेयं गुरुश्चक्रे जगत्प्रथममङ्गलम् ।।' (10.67)

अर्थात् 'अभिरामत्व' वपु का मनोहर होना ही उनके 'राम' नाम के प्रवृत्ति का निमित्त था। 'शूर्पणखा' शूर्प इव नखानि यस्या सा' के लिए कलिदास की उक्ति है कि

'रूपं शूर्पणखा नाम्न: सदृशं प्रत्यपद्यता।।' (12.38)'

शूर्पणखा ने अपने नाम के सदृश रूप धारण कर लिया। इसी प्रकार 'दूषण' 'दूषयतीति' दूषण:' अर्थ को लेकर कालिदास का कथन है कि

असज्जनेन काकुत्स्थ: प्रयुक्तमथ दूषणम्।
न चक्षमे शुभाचार: स दूषणमिवात्मन: ।।' (12.46)

राम ने दुष्ट लोगों से भेजे गये दूषण को इसी प्रकार क्षमा नहीं किया जैसे सदाचारी व्यक्ति दुर्जनों के उच्चारित अपने दोष को क्षमा नहीं करता।

'मेघनाद' मेघइव नादो यस्य स:' को लेकर कालिदास का कथन है कि

'स नादं मेघनादस्य धनुश्चेन्द्रायुधप्रभम् ।
मेघस्येव शरत्कालो न किञ्चित्पर्यशेषयत् ।।' (12.79)

यहाँ पर मेघनाद के गर्जन को मेघ के समान और धनु: को इन्द्रायुध के समान कहा गया है। अत्यन्त सौन्दर्यपूर्ण उक्ति है।

पञ्चाप्सर नामक सरोवर को दिखाते हुए राम सीता को उसके विषय में बताते हैं कि इन्द्र ने शातकर्णि मुनि के तप से डरकर उनका तप भंग करने के लिए पाँच अप्सराएं भेजी थीं अत: उनके विहार के कारण इसका नाम हुआ पञ्चाप्सर, 'पञ्चाप्सरसो यस्मिन्निति'। कालिदास के शब्दों में

'एतत्मुनेर्मानिनि शातकर्णे: पञ्चाप्सरो नाम विहारवारि' तथा
समाधिभीतेन किलोपनीत: पञ्चाप्सरो यौवनकूटबन्धम् ।।' (13.38,39)

इसी प्रकार सुतीक्ष्ण को लेकर कालिदास का कथन है,

'हविर्भुजामेधवतां चतुर्णां मध्ये ललाटन्तपसप्तसप्ति:।
असौ तपस्यत्यपरस्तपस्वी नाम्ना सुतीक्ष्णश्चरितेन दान्त:।।' (13.41)

यह तपस्वी नाम से 'सुतीक्ष्ण' (बहुत तीखा) हैं पर चरित से सौम्य हैं, यहाँ नाम की चरित से विपरीतता है किन्तु तीक्ष्ण तप करके अपना नाम सार्थक कर रहे हैं शत्रुघ्न के नाम को सार्थक दिखाते हुए कालिदास कहते हैं,

आदिदेशाथ शत्रुघ्नं तेषां क्षेमाय राघव:।
करिष्यन्निव नामास्य यथार्थमरिनिग्रहात्।।'(15.6)

'शत्रुघ्न ' का अर्थ है ' शत्रून्हन्तीति', अत: राम ने उनके नाम को यथार्थ करते हुए शत्रु (लवणासुर) का उन्मूलन करने का आदेश दिया।

सीता के पुत्रों के नाम लव और कुश रखने में क्या कारण था, इसको कालिदास इस प्रकार बताते हैं,

'स तौ कुशलवोन्मृष्टगर्भक्लेदौ तदाख्यया।
कवि कुशलवावेव चकार किल नामत:।।' (15.32)

क्योंकि सीता की गर्भपीड़ा कुश-दर्भ और लव- गाय के पूंछ के बाल - 'कुशैर्दर्भैर्लवैर्गोपुच्छलोमभि:' से दूर हुई थी अत: कवि ने उन दोनों के नाम ही कुश और लव रख दिये। इसी प्रकार शत्रुघ्न के पुत्रों के नाम शत्रुघाती और सुबाहु भी सार्थक हैं।

'शत्रुघातिनि शत्रुघ्न: सुबाहौ च बहुश्रुते।
मधुराविदिशे सून्वोर्निदधे पूर्वजोत्सुक:।।' (15.36)

इन नामों को इस प्रकार भी लिया जा सकता है- शत्रुघाती सुबाहु और बहुश्रुत। कुश और लव के नामों का युक्तिपूर्ण औचित्य कालिदास ने इस प्रकार प्रकट किया है,

'स निवेश्य कुशावत्यां रिपुनागाङ्कुशं कुशम्।
शरावत्यां सतां सूक्तैर्जनिताश्रुलवं लवम् ।।' (15.97)

कुश शत्रु रूपी नागों के लिए अङ्कुशभूत होने से और लव अपने सुन्दर वचनों से सज्जनों की आँखों में आँसू लाने से अपने नाम को सार्थक ठहराते हैं।

---

1. पं0 सीताराम चतुर्वेदी ने अपनी कालिदास ग्रन्थावली में इनको 'शत्रुघाती और सुबाहु अपने दो विद्वान् पुत्रों' (पृ0 143) इस प्रकार लिया है जबकि हरगोविन्दमिश्र ने अपनी हिन्दी टीका में 'शत्रुनाशक सुबाहु तथा बहुश्रुत (नामक अपने) दो पुत्रों को (278) लिया है जबकि वही संस्कृत टीका से (मल्लिनाथ कृत) बहुश्रुते शत्रुघातिनि सुबाहौ च', विद्वान् शत्रुघाती और सुबाहु नाम ही उचित प्रतीत होते हैं।

कुश को बार-बार शत्रुओं का अंङ्कुश कहा गया है यथा प्रस्तुत श्लोक में

'त्रैलोक्यनाथप्रभवं प्रभावात्कुशं द्विषामङ्कुशमस्त्रविद्वान् ।
मानोन्नतेनाप्यभिवन्द्य मूर्ध्ना मूर्धाभिषिक्तं कुमुदो बभाषे।।' (16.81)

अतिथि के पुत्र का नाम निषध रखा गया जिसके लिए यह तर्क दिया गया है कि वह निषधराज की पुत्री से उत्पन्न हुआ और शत्रुओं का नाश करने वाला था और निषध पर्वत से कम बलवाला नहीं था जैसा कि कालिदास के कथन से स्पष्ट है-

'स नैषधस्यार्थपतेः सुतायामुत्पादयामास निषिद्धशत्रुः।
अनूनसारं निषधान्नगेन्द्रात्पुत्रं यमाहुर्निषधाख्यम्।।'(18.1) ?

इसी प्रकार निषध के पुत्र नल के लिए, उसके नाम की सार्थकता को सिद्ध करते हुए कहा गया है कि अनल जैसे ओजवाले उनके नल नामक पुत्र ने वंशश्री को प्राप्त किया और नलिन के समान मुख वाले उसने शत्रुओं की सेनाओं को ऐसे ही कुचल दिया जैसे हाथी नड़वल(नरकट के गट्टे) को

'तस्यानलौजास्तनयस्तदन्ते वंशाश्रियं प्राप नलाभिधानः।
यो नड़वलानीव गजः परेषां बलान्यमृद्नान्नालिनाभवक्त्रः।।' (18.5)

अनल के सामन ओजस्वी होने से उसका नाम नल हुआ। नल के पुत्र का नाम नभ हुआ क्योंकि वह नभस्तल के समान श्यामशरीर था और नभोमास(श्रावण) के समान प्रजाओं को प्रिय था। नभ नाम रखे जाने का कितना सुन्दर औचित्य है,

नभश्चरैर्गीतयशा सलेभे नभस्तलश्यामतनुं तनूजम्।
ख्यातं नभः शब्दमयेन नाम्ना कान्तं नभोमासमिव प्रजानाम्।। (18.6)

नभ के पुत्र पुण्डरीक के नाम के विषय में कालिदास की कितनी युक्ति युक्त उक्ति है।

'तेन द्विपानामिव पुण्डरीको राज्ञामजय्योऽजनि पुण्डरीकः।
शान्ते पितर्याहृतपुण्डरीका यं पुण्डरीकाक्षमिवाश्रिता श्रीः।। (18.8)

पुण्डरीक राजाओं में उसी प्रकार श्रेष्ठ थे जैसे हाथियों में 'पुण्डरीक'(अग्निकोण का दिग्गज) और पिता के शान्त हो जाने पर पुण्डरीक (श्वेत कमल) धारण करने वाली लक्ष्मी ने पुण्डरीकाक्ष (विष्णु के समान उनका वरण कर लिया। पुण्डरीक के पुत्र क्षेमधन्वा (क्षेमं धनुर्यस्य) के लिए कालिदास की चमत्कारपूर्ण और औचित्यपूर्ण युक्ति है कि,

स क्षेमधन्वानममोघधन्वा पुत्रं प्रजाक्षेमविधानदक्षम्।
क्ष्मां लम्भयित्वा क्षमयोपपन्नं वने तपः क्षान्ततरश्चकार।। (18.9)

उनका क्षेमधन्वा नाम यथा नाम तथा गुण है, वह प्रजा का क्षेम (कल्याण) करने में दक्ष थे और क्षेम ही उनका धनुः था अतः उनका क्षेमधन्वा नाम अत्यन्त सार्थक है।

क्षेमधन्वा का पुत्र देवानीक हुआ जिसके नाम के विषय में युक्ति है कि वह अनीकिनी (सेनाओं) के आगे चलने वाला था और देवप्रतिम था अतः उसका दैवानीक' नाम स्वर्ग में भी प्रसिद्ध हुआ।

अनीकिनीनां समरेऽग्रयायी तस्यापि देवप्रतिमः सुतोऽभूत्।
व्यश्रूयतानीकपदावसानं देवादि नाम त्रिदिवेऽपि यस्य।। (18.10)

उनके पुत्र 'अहीनगु' के नाम की सार्थकता को कालिदास ने इन सुन्दर शब्दो में प्रकट किया है।

अहीनगुर्नाम स गां समग्रामहीनबाहु द्रविण: शशास।
यो हीन संसर्गपराङ्मुखत्वाद्युवाप्यनर्थैर्व्यसनैर्विहीन:।। (18.14)

अहीनग अर्थात् हीनता (नीचता) को न प्राप्त होने वाला। उनका बाहुबल हीन नहीं था। और जो हीन (नीचों) के संसर्ग से विमुख होने के कारण अनर्थकारी व्यसनों से दूर थे अत: उनका 'अहीनगु' नाम अत्यन्त उपयुक्त है। अहीनग के पुत्र 'पारियात्र' के लिए कालिदास का अत्यन्तौचित्यपूर्ण कथन है कि

'तस्मिन्प्रयाते परलोकयात्रां जेतर्यरीणां तनयं तदीयम्।
उच्चै: शिरस्त्वाज्जित पारियात्रं लक्ष्मी सिषेवे किल पारियात्रम्।। (18.16)

शिर की ऊँचाई से पारियात्र (सातकुलपर्वतों में से एक पर्वत विशेष) पर्वत को भी तिरस्कृत करने के कारण लक्ष्मी उनका सेवन करने लगी। इस प्रकार पारियात्र नामक सार्थक है। उनका उदारशील और शिलापट्ट के समान विशाल वक्षस्थल वाला शिल नामक पुत्र हुआ जो शिलीमुख (बाण) से शत्रु पक्ष को जीतकर प्रशंसा किये जाते हुए शालीन रहते थे। शिलापट्ट के समान वक्षस्थल होने उदारशील होने और शालीन होने से उनका 'शिल' नाम अत्यन्त सार्थक और औचित्ययुक्त सिद्ध होता है।

तस्याभवत्सूनुरुदारशील: शिल: शिलापट्ट विशालवक्षा।
जितारिपक्षोऽपि शिलीमुखैर्य: शालीनतामब्रजदीड्यमान:।। (18.17)

उनके पुत्र उन्नाभ के लिए कहा गया है;

उन्नाभ इत्युद्गतनामधेयस्तस्याययथार्थोन्नतनाभिरन्ध्र:।
सुतोऽभवत्पङ्कजनाभिकल्प: कृत्स्नस्य नाभिर्नृपमण्डलस्य।। (18.20)

इसके लिए मल्लिनाथ की टीका में कहा गया है **यथार्थ यथा तथोन्नतं नाभिरन्ध्रं यस्य स:, गम्भीरनाभिरित्यर्थ:।** वे पङ्कजनाम (कमल की नाभिविष्णु) के समान थे और सम्पूर्ण नृप मण्डल की नाभि अर्थात् केन्द्र थे अत: गहरी नाभिवाले होने से उनका अयथार्थ उन्नाभ नाम सार्थक है। उन्नाभ के पुत्र वज्रनाभ हुए जिसके नाम को लेकर कालिदास का कथन है कि

तत: परं वज्रधरप्रभावस्तदात्मज: संयति वज्रघोष:।
बभूव वज्राकरभूषणाया पति: पृथिव्या: किल वज्रणाभ:।। (18.21)

वज्रनाभ अपने नाम के ही अनुरूप वज्र के समान घोष करने वाला, वज्र को धारण करने वाले इन्द्र के समान प्रभाववाला और वज्र (हीरों) की खान रूपी आभूषण वाली पृथ्वी का पति था। अत: उसका वज्रणाभ नाम अत्यन्त सार्थक और उपयुक्त है। (वज्रणाभ - वज्रको धारण करने वाले के समान कान्ति वाला)। वज्रनाभ के पुत्र का नाम शंखण हुआ, जिसकी अर्णवान्त पर्यन्त पृथ्वी ने रत्नों के उपहारों द्वारा सेवा की। शंखण का पुत्र व्युषिताश्व हुआ जिसका यह नाम ही घोड़ों को बहुत दूर तक ले जा कर ठहराने के कारण पड़ा था - **वि. उषिता अश्वा: येन स:।** उसके नाम की सार्थकता को कालिदास ने इन शब्दों में प्रकट किया है -

तस्यावसाने हरिदश्वधामा पित्र्यं प्रपेदे पदमाश्विरूप:।
वेलातटेषूषितसैनिकाश्वं पुराविदो यं व्युषिताश्वमाहु:।। (18.23)

इस प्रकार व्युषिताश्व का नाम अत्यन्त युक्तियुक्त और औचित्यपूर्ण है। व्युषिताश्व का पुत्र विश्वसह हुआ जिसे पिता ने विश्वेश्वर की आराधना कर प्राप्त किया था और जो विश्वंसह अर्थात् विश्व

को सहने में, पालन करने में समर्थ था। कालिदास के शब्दों में

'आराध्य विश्वेश्वरमीश्वरेण तेन क्षितेर्विश्वसहो विजज्ञे।
पातुं सहो विश्वसखः समग्रां विश्वम्भरामात्मजमूर्तिरात्मा।। (18.24)

इस प्रकार उसका विश्वसह नाम अत्यन्त उपयुक्त है। विश्वसह का हिरण्यनाभ नामक पुत्र हुआ, विष्णु का ही अंश होने से जिसका हिरण्यनाभ नाम सार्थक था, वृक्षों के लिए जैसे वायुसहित हिरण्यरेता (अग्नि) असह्य होती है वैसे ही उसके उत्पन्न होने पर विश्वसह शत्रुओं के लिए असह्य हो गए। (15.25)

उन हिरण्यनाभ के कौसल्य पुत्र हुआ क्योंकि वे उत्तरकोसल के राजा थे और सोमसुतः (सोमं सुतवतः) सोमरस का पान करनेवाले (यज्ञकर्ता) थे अतः उनके पुत्र का नाम कोसल्य (कोसल से सम्बन्ध रखनेवाला) अत्यन्त उचित है और वह द्वितीय सोम (चन्द्रमा) के समान नेत्रानन्ददायक था। (18.27)

कौसल्य के पुत्र का नाम ब्रह्मिष्ठ हुआ जो ब्रह्मिष्ठ-श्रेष्ठ ब्रह्मविद् होने से अत्यन्त सार्थक था जिसे कालिदास ने इन शब्दों में प्रकट किया है,

'यशोभिराब्रह्मसमं प्रकाशः स ब्रह्मभूयंगतिमाजगाम।
ब्रह्मिष्ठमाधाय निजेऽधिकारे ब्रह्मिष्ठमेव स्वतनु प्रसूतम्।। (18.28)

उनके पुत्र का नाम पुत्र था जो अत्यनत सार्थक था क्योंकि उनके 'पुत्र' नामक पुत्र ने उन्हें पुत्रवानों का शिरोमणि बना दिया, इस बात को कालिदास ने इन सुन्दर शब्दों में अभिव्यक्त किया;

पात्रीकृतात्मा गुरुसेवनेन स्पष्टाकृति पत्ररथेन्द्रकेतोः।
तं पुत्रिणां पुष्करपत्र नेत्रः पुत्रः समारोपयदग्रसंख्याम्।। (18.30)

पुत्र के पुष्य नामक पुत्र हुआ। उसका पुष्य नाम अत्यन्त युक्तियुक्त है क्योंकि वह पौष्यतिथि (पूस की पूर्णिमा) में उत्पन्न हुआ था और उसके उदित होने पर लोगों ने समग्र पुष्टि को पुष्ट किया जैसे दूसरा पुष्य नक्षत्र हो, अतः पुष्य नक्षत्र के समान वृद्धि का कारण होने से उसका नाम पुष्य युक्त है। कालिदास के शब्दों में यह तथ्य इस प्रकार व्यञ्जित हुआ है।

तस्य प्रभाव निर्जितपुष्परागं पौष्यां तिथौ पुष्यमसूत पत्नी ।
तस्मिन्नपुष्यन्नुदिते समग्रां पुष्टिं जना पुष्य इव द्वितीये।। (18.32)

पुष्य के पुत्र ध्रुवसंधि थे जो यथार्थनाम थे क्योंकि

ततः परं तत्प्रभवः प्रपेदे ध्रुवोपमेयो ध्रुवसन्धिरुर्वीम्।
यस्मिन्नभूज्ज्यायसि सत्यसन्धे सन्धिध्रुवः सन्नमतामरीणाम्।। (18.34)

ध्रुवसंधि-ध्रुवासन्धि यस्य सः। उनका ध्रुवसन्धि नाम अत्यन्त उपयुक्त था क्योंकि उनकी सन्धि अत्यन्त ध्रुव (अटल) होती थी और वे सत्य प्रतिज्ञ थे तथा ध्रुव के तुल्य थे। उनका सुदर्शन नामक पुत्र था जिसका सुदर्शन देखने में प्रिय, सुन्दर) नाम अत्यन्त युक्ति युक्त था क्योंकि दर्श (अमावस्या) के अत्यय ? अर्थात् प्रतिपदा के चन्द्रमा के समान देखने में अत्यन्त प्रिय था, इसी बात को कालिदास इस प्रकार कहते हैं : सुते शिशावेव सुदर्शनाख्ये दर्शात्ययेन्दु प्रियदर्शने सः (18.35)। सुदर्शन के पुत्र का नाम अग्निवर्ण हुआ, जिसका अग्नि के समान तेजस्वी होने से आग्निवर्ण (अग्नि इव वर्ण यस्य सः) नाम अत्यन्त उपयुक्त था, यथा 'अग्निवर्णमभिषिच्य राघवः स्वे पदे तनयमग्नितेजसम्।' (19.1)

इस प्रकार हम देखते हैं कि रघुवंश में कालिदास ने नाम अत्यन्त युक्तियुक्त और सार्थक रखे

हैं। रघुवंश के नायकों-राजाओं के नाम अत्यन्त सारगर्भित और महत्वपूर्ण हैं। उनका महत्व नाम लेते ही अवबोधित हो जाता है। राजाओं के नाम यथा नाम तथा गुण है: उनके नामों से उनके कृत्यों और गुणों पर प्रकाश पड़ता है। कालिदास ने नाम अत्यन्त सोच समझकर रखे हैं जो नामों की युक्तियुक्तता और औचित्य को दर्शाते हैं।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. कालिदास ग्रन्थावली, रघुवंश, सम्पादक आचार्य सीताराम चतुर्वेदी, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, चतुर्थ संस्करण, 1900
2. रघुवंश महाकाव्यम्, मल्लिनाथकृत सञ्जीवनी टीकायुत मणिप्रभाहिन्दी व्याख्योपेतम्, हिन्दी व्याख्याकार, साहित्याचार्य श्री हरगोविन्द मिश्रः, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी, 1961

डॉ. (श्रीमती) मंजुल गुप्ता,
रीडर संस्कृत विभाग,
महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय,
रोहतक।

मैं चाहता हूँ कि आप लोगों में से लोग महान् बनें, महान् अपने तईं नहीं बल्कि आपकी महत्ता भारत को महान् बनाने के लिए हो, ताकि भारत संसार की स्वतन्त्र जातियों में अपना सिर ऊँचा करके खड़ा हो सके। आप में से जो गरीब व गुमनाम है, मैं चाहूँगा कि आपकी गरीबी और गुमनामी मातृभूमि की सेवा के लिए अर्पित हो। आप कर्म करिये ताकि भारत माता समृद्ध हो सके, आप कष्ट उठाइये ताकि भारत माता के चेहरे पर खुशी की लहर दौड़ जाए।

महर्षि अरविन्द

आदमी ना रहे

आदमी ना रहे आदमी की तरह,
जिन्दगी बन गयी एक कफन की तरह।।
बात बनती नहीं, अब किसीं मोड़ पर।
राही चलने लगे, अब डगर छोड़ कर।
शहर भी जल रहे, अब हवन की तरह..................आदमी ना.....
अपना जिनको कहा, दूर हटके खड़े ।
घर अपना लुटा, देखते है खड़े ।
दिन हमारे कहाँ, उन दिनन की तरह..................आदमी.........
सुख को ढूँढा मगर, मिल न पाया कहीं।
आँख द्वारे लगी, मीत आया नहीं ।
खाली-खाली है मन, इस गगन की तरह..................आदमी.........
बाट चलते रहे, लक्ष्य जाना नहीं।
बात करते रहे, मर्म जाना नहीं।
मीत भी हो गए, अब चुभन की तरह..................आदमी.........
दर्द जो दे गए, याद वे बन गए।
भाव जो उठ रहे, छन्द वे बन गए।
फूल भी हो रहे, अब जलन की तरह..................आदमी.........
दर्द दिल का कहा, रास आया नहीं,
जिन्दगी पे कभी, प्यार आया नहीं ।
जी रहे हैं सदा, अब घुटन की तरह..................आदमी.........
भोर कितनी सुहानी, उगी आज थी।
किसने उसमे लगाई, अरे आग थी ।
रात-दिन जल रहे, अब अगन की तरह..................आदमी.........
देवता के लिए, फूल अर्पित किए ।
क्या मिला मूक, पाथर से सम्बन्ध किए।
भाव बिखरे सभी, इक सपन की तरह..................आदमी.........

महावीर 'नीर' विद्यालंकार
गुरुकुल कांगडी
हरिद्वार

REFELECTION OF VEDAS IN THE MAHABHARATA

Mahabharata is a great epic depicting the foundations of all Indian culture and civilization. It is the nucleus of all religious thoughts of the men and women in India specially who are devoted to Hinduism. It is not only a mere kavya but a mahakavya. The sages and the seers used to praise it form the innermost corner of their heart. As consonants and vowels interlinked with the words, as worldly wisdom and Vedic knowledge interlinked with all religious attitudes, so the Mahabharata is interconnected with all auspicious thoughts and intuitions.

The Mahabharata is called the fifth /Veda, viz, the Karsna Veda[1], i.e. the Veda ofKrsna Dvaipayana Vyasa, and the essence of other Vedas.[2] One should study the Vedas with its help. Because, one who does not have a knowledge of this highly sacred and authentic work, is not a learned man even though one may be a profound scholar of the Vedas and Upanisads,[2] Vedavyasa, the compiler ofthe Vedas, desired to make them easy and profitable to mankind. So he composed this great epic with the extended thoughts of the Vedas. In the sense this great epic Mahabharata is called the fifth Veda [3], containing illustrated and glorified ideas of the Vedas.

The Mahabharata is an aras kavya (grantha) because it is composed in the light of (four) Vedas. The Vedas are also mentioned thoughout the Mahabharat in hundreds of passages. [4] They are usually referred in the pluarl as the Vedas, but the terms like sruti (XII. 268.10;297.33 etc.) amnaya (XII.268.33), chandas (XII.339.69) and traividya (XII.123.20) are also cmployed. They are also referred to by name as the Rk (XII.343.97 ; 348.22 etc) Yajus (XII.244.26;342.99 etc.) Saman (XII.342.97 ; 348.10 etc). and Atharva (XII. 342.100 etc.). The name of Brahmana (Satapatha XII.318.11, 16-17;342.13), Aranyaka (XII.343.13;349.1), Upanisad (XII. 318.34,112;339.111 etc.) and Vedangas (XII.37.11;69.31 etc.) are also mentioned in this epic. In the Santiparvan it is clearly stated by Lord Narayana that perfectly following the four Vedas, the Yajurveda, the Rigveda, the Samaveda and the Atharvaveda, this epic Mahabharata will be an authority in the world with regard to both work and renunciation :

प्रवृतौ च निवृत्तौ च यस्मादेतद् भविष्यति।
यजुर्ऋक्सामभिर्जुष्टमथर्वांगिरसौतथा ॥[5]

Further this epic is treated as a Upanisad, which contains Vedic teachings i.e. eternal knowledge of the four Vedas. As said:

इदं महोपनिषदं चतुर्वेदसमन्वितम्।[6]

Hence, different Vedic subjects like the importance of Vedas and Vedic scholars, Vedic devatas and rsis, Vedic samskaras, Vedic asramas, Vedic yajnas, Vedic karmas, etc. have been discussed inthe Mahabharata. In this paper an attempt is made to highlight these subjects in brief, which are reflected in the Mahabharata (i.e inthe Santiparvan).

1.1 Glorification of the Vedas and Vedic Scholars:

The Vedas are regarded as authenitic by all, People never disregard them. For the welfare of the humanity Vedas, Vedangas and other scriptures were created by the God. So, it is said :

धर्मशास्त्राणि वेदाश्च षडङ्गानि नराधिप।
श्रेयसोऽर्थे विधीयन्ते नरस्याक्लिष्टकर्मण:।।[7]

The Mahabharata clearly defines the nature, characteristic of a vedavit, or vedajna purusa. It says that one who behaves all creatures like his own relatives and one who is acquainted with brahmatattva, is said to be a master of all the Vedas.[8] It further adds that he is said tobe a qualified knower of the Vedas, who is conversant with that which gratifies one, whose stomach is empty, which please one who is angry, and which invigorates one whose bodies are feeble. Besides, one who is well-versed in the Vedas, knows everything, for everything, is established on the Vedas, Verily, the present, past and future all exist in the Vedas, Hence it is said:

येन तृप्यत्यभुञ्जानो येन तृप्यत्यवित्तवान्।
येनास्नेहा बलं धत्ते यस्तं वेद स वेदवित्।।[9]

and

सर्वं विदुर्वेदविदो वेदे सर्वं प्रतिष्ठितम्।
वेदे हि निष्ठा सर्वस्य यद् यदस्ति च नास्ति च।।[10]

1.2 Nastika purusa and Vedas :

In the Mahabharata, the term 'nastika' is found in several passages. The word 'nastika' generally means atheist. Those who reject the traditional Vedic system are designated as nastikas, Severe punishment is given to the atheist persons during Mahabharata period.

Unbelieves (of the Vedas), with their hands bound, are sent to the dense forests, full of lions, elephants, snakes and robbers.[11] In another chapter Pitamha Bhisma explains that due to vedanindaka karma Indra took birth in the form of a jackal in his previous brith. In the words of Indra he has rejected the Vedas and stopped the rectation of the Vedas and also told arrogantly to the Brahmins. So due to this sin he took brith as a jackal, which is said as under.

अहमासं पण्डितको हैतुको वेदनिन्दक :।
आन्वीक्षिकीं तर्कविद्यामनुरक्तो निरर्थकान्।।
नास्तिक: सर्वशङ्की च मूर्ख: पण्डितमानिक:।
तस्येयं फलनिर्वृत्ति: श्रृगालत्वं मम द्विज:।। [12]

No man acquires any blessedness or good result by disregarding the Vedas. Therefore, disregard of the Vedas, disobedience to the dictates of the traditonal scriptures, and violation of all wholesome restraints, are productive of self destruction.

अप्रामाण्यं च वेदानां शास्त्राणां वाभिलंघनम्।
अव्यवस्था च सर्वत्र तद् वै नाशनमात्मन: ।।[13]

So in no way, the Vedas and other scriptures are disregarded by the author of Mahabharata.

2.1 Vedas and Seers/Sages (rsi/muni)

The Mahabharata records a number of seers and sages. Marici, Angiras, Atri, Pulastya, Pulaha, Kratu and Vasistha-these seven seers have created by Brahma. They are famous and foremost of all the seers, well-versed in the Vedas. These seven seers are known as citraskhandi in the Santiparvan :

मरीचिरत्र्यङ्गिरसौ पुलस्त्य पुलह: क्रतु:।
वसिष्ठश्च महातेजास्ते हि चित्रशिखण्डिन:।। [14]

....

एते वेदविदो मुख्या वेदाचार्याश्च कल्पिता:। [15]

Elsewhere of the Santiparva these above said seven rsis including Manu are known as eight elements. The world depends upon these elements. Brahma created these for the welfare of all creatures. From

these eight elements have originated this vast universe.[16] Beside these rsis, the Santiparvan also records other prominent sages, namely, Asita, Devala, Narada, Parvata, Parvata, Kaksivan, Parsurama, Vasistha, Jamadagni, Visvamitra, Atri, Bharadvaja, Harismasru, Kundadhara and Srutasravas. The eminent sages by worshipping Lord Visnu with concentrated minds with the help of mantras (rcas), and by penances, succeeded in attaining to success through the grace of that great God endued with intelligence.[17]

2.2 Vedavyasa and Veda (rules of Study of Vedas) :

It is known that Vedavyasa has compiled the (four) Vedas. According to the Santiparvan Vedavyasa has four prominent disciples, namely, Sumanta, Vaisampayana, Jaimini, and Paila. These four disciples have perfectly mastered of the Vedas with their six branches. For the propagation of Vedic learning Vedavyasa has properly advised to his disciples that the Vedas should always be imparted to him, who is a brahmin or to him who is highly desirous oflistening and knowing toVedic teachings. He further adds that the Vedas should they be given to one who is not observant of right vows. These should be known as the proper qualifications of persons who can be accepted as disciples for the communication of Vedic knowledge. No vedavidya should be imparted to one without a proper examination of one's character. Let all disciples conquer all difficulties, and let all of them meet with auspicious success. The brahmins should be given top priority for learning of the Vedas, but at the same time other castes should not be ignored.These are the rules of study of the Vedas as explained by Vedavyasa in the Mahabharata :

वेदस्याध्ययनं हीदं तच्च कार्यं महत् स्मृतम्।[18]

2.3 Sukadeva and Veda :

According to Santiparva, Vedavyasa's son Sukadeva was also a great sage. He has studied Vedas[19] from his own father. Once Vedavyasa with son Suka, started to recite the Vedas in a loud sweet voice, observing all the rules of accent and, as it were, filling the three worlds with that sound.

शुकेन सह पुत्रेण वेदाभ्यासमथाकरोत्।
स्वरोणोच्चैः स शैक्ष्येण लोकानापूरयन्निव।।[20]

Sukadeva was also an extraordinary sage because just after his birth, the Vedas, with all their mysteries and all their abstracts,came for living in him, even as they live in his father, Vedavyasa :

उत्पन्नमात्रं तं वेदाः सरहस्याः स संग्रहाः।।
उपतस्थुर्महाराज यथास्य पितरं तथा।। [21]

2.4 Yajnavalkya and Veda

It is statced in Santiparva of the Mahabharata that rsi Yajnavalkya worshipped the Sun God and learnt sukla yajus from him. The appelation 'sukla' (White) owes its origin in all probability to the connection with the Sun the white sacrificial utterances were revealed by the Sun. In contrast with this older Yajurveda was called the black on, i.e. Krisna Yajurvedaa. The Sun God also blessed him to edit entire Satapatha Brahmana and which is also gladly accepted by Yajnavalkya.

कृत्स्नं शतपथं चैव प्रणेस्यसि द्विजर्षभ।.....

and

ततः शतपथं कृत्स्नं सरहस्यं ससंग्रहम्।
चक्रे सपिरेशेषं च हर्षेण परमेण ह।।[22]

It is also known from the Mahabharatathat Yajnavalkya has received fifteen sakhas of Sukla Yajurveda form the Sun.[23]

2.5 Narada and Veda:

Devarsi Narada is well-versed in the Srutis and Upanisads. 24 His knowledge and wisdom are great. He always tries to conquer all earthly desires by listening to Vedic rectations and attending to the Puranas. He is endued with great learning in the scriptures. So he never disregards or hates any kind of sastras. He is a great renouncer and he never des-respect any one. He is free form cupidity and deception. In a true sense he is eminet rsi. Therefore he is everywhere adored with respect. In chapter CCCXXXV of the Santiparva narada clearly justifies himself as a real Vedic seer by stating the following verse.

पूजां गुरूणां सततं करोमि परस्यं गुह्यं न तु भिन्नपूर्वम् ।
वेदाः स्वधीता मम लोकनाथ तप्तं तपो नानृतमुक्तपूर्वम्।। [25]

3. Devatas and Veda :

The Mahabharata records a number of devatas and their nature and functions.

The Prominent among them are: Agni, Brahma and Narayana (Vishnu)

3.1 Agni and Veda :

The most important and famous of the Vedic gods is Agni, the fire-god. In the first mantra of the Rgveda (agnimide purohitam yajnsaya deva rtvijam; hotaram ratna dhatamam-RV 1.1.1). Agni is designated as the hota and purohita of the Vedic sacrifice. In the Mahabharata Agni is also called as the hota of the vaidik yajna:

अग्निर्हि यज्ञानां होता कर्ता स चाग्निर्ब्रह्म।। [26]

So Agni is truly the hoter and performer of sacrifices. He is also knowen as the Brahma of the sacrifice. No libation can be poured into sacrifical fire without uttering mantras; there can be penances without a person to perform them; worship of deities and men andthe seers is accomplished by the libations Poured with mantras. Therefore. Agni has been regarded as the hoter of the universe and sacrifices. Moreover, his is the instrument through which the gods and men do good to the universe. Angi is also known as Visnu. Becuase entering in all creatures, he upholds their vital airs. In the words of Manahbharata:

अग्निर्विष्णुः सर्वभूतान्यनुप्रविश्य प्राणान् धारयति। [27]

3.2 Brahma and Veda :

At the very outset the Brahaman caused (created) those excellent vedic sounds (vedavidya) that are embodiment of true knowledge and that have neither beginning nor end to flow on. The names of seers, all things that have been created, the varieties of from seen in things, and the course of all actions, have all originated from the Vedas. As it is described in the epic.

अनादिनिधना विद्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा।।
ऋषीणां नामधेयानि याश्च वेदेषु सृष्टयः।
नानारूपं च भूतानां कर्मणां च प्रवर्तनम्।।
वेद शब्देभ्य एतादौ निर्मिमीते स ईश्वरः।
नामधेयानि चर्षीणां याश्च वेदेषु सृष्टयः।। ।[28]

Indeed in the beginning Brahman created all things from the words of the Vedas. Truly, The names of the seers and sages and all else that has been created are found in the Vedas. When the Vedas were scized for stolen forcibly by two powerful Asuras, Brahman became stricken with grief and prayed Narayana to restore the Vedas. In the words of Brahman the importance of the Vedas cannot be ignored at any cost Thus he presented the significance of the eternal knowledge as:

वेदा मे परमं चक्षुर्वेदा में परमं बलम्।
वेदा मे परमं धाम वेदा में ब्रह्म चोत्तरम्।।
मम वेदा हृता: सर्वे दानावाभ्यां बलादित: ।
अन्धकारा हि मे लोका जाता वेदैर्विनाकृता:।।
वेदानृते हि कुर्या लोकानां सृष्टिमुत्तमाम्।
अहो बत महद् दु:खं वेदनाशनजं मम।। [29]

Hence from the above informative verses it is clear that without Vedas, I.e. Vedavidyas, The creation has no meaning and the whole have become covered with darkness. This way, the Vedas can not be scparted from Brahman and hence it has no existence without Brahman and his entire creation.

3.3 Narayana and Veda :

The Supreme Purusa is identified at some places, with Lord Krishana, Visnu and Narayana as the creator of this Universe. The importance of Cosmic Purusa is wisely noticed in the Purrsa-sukta of the Rgveda (X.90) According to the Mahabharata this Pursa (Sukta) occurs in all the Vedas and it is well-known to be one with rita and satya. The author or Mahabharata, Vedavyasa has thought upon in a proper way:

इदं पुरुषसूक्तं हि सर्ववेदेषु पार्थिव।
ऋतं सत्यं च विख्यातमृषिसिंहेन चिन्तितम्।। [30]

Like the form and features of Purusa in the Purusa Sukta of the Lord Narayana has also heads thousend feets, thousand eyes, thousend stomaches and thousend hands. With one of his mouths he utters the syllable 'om' and then the gayatri follwoing 'om'. His other mouths utters mantras from the four Vedas. The Lord of all the devas, the Divinc God who is adored in sacrifices (yajnas), held in His hands a sacrificial alter, a kamandalu a dandakastha a bundle of kusa grass,

and a little blazing fire [31]

The Vedas, yajnas, plants and herbs have created by Lord Narayana to appease the Vedice gods, which is stated as undter:

इत्यर्थ निर्मिता वेदा यज्ञाश्चौषधिभि: सह।
एभि: सम्यक् प्रयुक्तैर्हि प्रीयन्ते देवता: क्षितौ।।[32]

Lord Narayana is called by His devotees in different names namely Adhoksaja [33], Ghrtaci [34], and Hiranyagarbha 35. These names of Narayana have also been cited in the kosas and other sastras. It is very interesting to note that Lord Narayana is regarded as the embodied form the Rgveda, containing of twentyone thousand mantras. Individuals conversant with the Vedas also call Him the embodiment of the Samans, i.e. Samaveda of thousand mantras. So the learned Brahmins, who are devoted worshippers of Narayana sing (pray) Him in the Aranyakas as:

एक विंशति साहस्रं ऋग्वेदं मां प्रचक्षते।
सहस्रशाखं यत् साम ये वै वेदविदो जना:।।
गायन्ति आरण्यके विप्रा मद्भक्तास्ते हि दुर्लभा:।। 36

The Adhvaryus sing Narayana in the Yajurveda, which consists of one hundred and one branches. [37] He is also regarded by the wise hrahmins of the Athrarvaveda as identical with the Atharvans, consisting of five kalpas and all the krtyas,[38] Thus, all the sub-divisions of different Vedas with their sakhas, and all the mantras that compose these branches (sakhas) and all the vowels that occur in those mantras, and all the rules in respect of pronunciation, are considered as the real creation of Narayana,[39] the Supreme Lord of this universe.

4. Kings and Veda :

The learned scholars have suggested that the kings should live, reciting everyday the Vedas.40 In the Mahabharata regarding the study of kings it is noted that a king should be conservant with the Vedas and their angas (branches), possessed of wisdom, engaged in penances,and dveoted to the performance of yajnas. All these qualities should permanently reside in a king. Hence, it is rightly said:

वेदवेदाङ्गवित् प्राज्ञ: सुतपस्वी नृपो भवेत्।
दानशीलश्च सततं यज्ञाशीलश्च भारत।।[41]

The three kinds of fire the three Vedas and yajnas with daksina, all disappear when the king becomes careless. 42 Traividya here means three Vedas. The king should not oppress Vedic prjests, all of whom are respected and held high esteem. By suppressing these holy priests he incurs blame and sin.

ऋत्विकपुरोहिताचार्यान् सत्कृतानभिसत्कृतान्।
न ब्राह्मणान् घातयीत दोषांन् प्राप्नोति घातायन्।[43]

Hence, the rtrik, purohita and acharya should not be given any type of paid by the king. It also indicates that the Vedic priests deserved every respect in the society. King Yudhisthira has worshipped the well-versed Vedic brahmins at the time of his royal coronation (वेदाध्ययन सम्पन्नान् धृतिशील समन्वितान् - Mbh XII, 40.19).Bhisma has advised king Yudhisthira to protect Brahmins of pious deeds and devoted to the study of the Vedas as also all other men in his kingdom.

It is known from the Mahabharata that King Yudhisthira [44] has read the Rgveda, the Yajurveda, the Samaveda, the chandas, astronomy, Nirukta, Vyakarana and Siksa. Chandas here means Atharvaveda. Bhisma [45] has learned Veda and Vedangas form rsi Cyavana and Maharshi Vasistha. King Janaka [46] was also well versed in the Vedas and other sastras. Most of the kings of the mahabharata age were conversant of the Vedas and other scriptures and so they have a good respect for the Vedas and Vedic scholars in their mind. They used to follow the guide lines of the Vedas in their day to day life. Besides, it is important to note that in the palace (rajabhavana) of kind Dilipa the sound of Vedic recitations never ceased.[47] Hence, it is clear from the above references that the kings of the epical age were admirer of the Vedas and Vedic culture.

5. Caste (varna) system and Veda :

The Rgveda gives an account of the origin of the castes (varnas) from different organs of the Cosmic Purusa-the brahmanas from the mouth, the rajanyas (ksatriyas) from His arms, the vaisyas form his thigh and the sudras form his feet.[48] The Mahabharata accepts this account and mentions in many places, for an example :

ब्राह्मणो मुखत: सृष्टो ब्रह्मणो राज सत्तम।
बाहुभ्यां क्षत्रिय: सृष्ट ऊरुव्यां वैश्य एव च।।
वर्णश्चतुर्थ: पश्चात् तु पद्भ्यां शुद्रो विनिर्मित:।।[49]

It is clear from the above verses that the Vedic varna vyavastha (caste system) was reflected in the society of Mahabharata age. In addition to this, the epical age was the age of brahmanism. So brahmanism has become the subject matter of Mahabharata. The glory of brahmanism has been heralded everywhere in it. The brahmana class was in great supremacy-they used to be respected and revered by other classes inthe society. They are like Agni, who uphold sacrifices. The sacrifices, which the brahmanas perform strengthen the deities, [50] Brahman, in creating the universe, first created the brahmanas (Mbh XII.188.1). The brahmanas become immortal by studying the Vedas,and go to heaven though the aid of such study.

The Vedic knowledge is highly essential for a true brahmin in the epical age. Hence, Vedavyasa clarifies that he who has mastered over all the Vedas and observed the vow of brahmacarya, he who knows rk, yajus and saman mantras is called a real brahmin, [51] Vedavyasa further adds that a ksatriya should give charity (dana) to the best brahmins, No gift should be offered to a brahmin destitude of knowledge of the Vedas, Gifts should be offered to him, who is a srotriya, i.e. one who possessed of knowledge of the Vedas. So, there is no doubt that a gift made to a brahmin bereft of the Vedic knowledge becomes fruitless, in consequence of the fault of the recipient. [52] Therefore, the duty of a brahmin is to read and teach the Vedas throughout his life.[53]

In the Mahabharata the brahmin is known as "mantradarsinah", because he is well-versed in the mantras, i.e. Vedas, Like brahmin the ksatriya and vaisya also have every right to study the Vedas. As said in the Santiparva :

क्षेत्रजं सेवते कर्म वेदाध्ययन संगतः। क्षत्रिय उच्यते।।

and :

..वेदाध्ययन संपन्नः स वैश्य इति संज्ञितः।। [54]

But the sudra does not study the Vedas due to his impurity and bad conduct.

सर्वभक्षरतिर्नित्यं सर्वकर्मकरोऽशुचिः।
त्यक्तवेदस्त्वनाचारः स वै शूद्र इति स्मृतः।।[55]

So due to nindita karma and unrighteous conduct the sudra is being deprived for studying the Vedas, 56 He is responsible for this only for his ill deeds, but no sastra, i.e. Mahabharata has not banned him to study the Vedas. The mahabharata emphatically says that one should do his ordained duties properly and sincerely, because it earns glory and leads to heaven.

6. Asramadharma and Veda :

The life of the individual was divided in to four stages or asramas, viz. brahmacaryasrama, grhasthasrama vanaprasthasrama and sanyasasrama. The duties of the individual, which were determined by different stages are very eleborately discussed in this epic. This asramavyavastha is fully Vaidik and the individual used to follow this since his birth till death. The brahmacaryasrama is a period of learning and discipline, After proper initiation, the brahmacari goes to a teacher's house, known as gurukula, and stay their till the completion of this education. Here a strict moral education is given to the brahmacaris. Sage Bhrgu explains the duties of the brahmacaris in chapter CXCI of the Santiparvan. According to his the main task of this stage is to study the Vedas and to know the nature of God, and wrold, Because without studying Vedas no one can judge actions as right or wrong and even cannot choose the right path of life. In the grahasthasrama the grhastha engages himself in ritual sacrifices. Besides vedadhyayana, the house holder should perform his grhasthadharma properly. In the grhasthasrama the grhastha engages himself in ritual sacrifices. Besides vedadhyayana, the house holder should perform his grhasthadharma properly. In this asrama he should always worship and receive such guests (atithi) 57, those are presenters of sacrificial offerings and cleansed by Vedic lore and devoted to excellent vows and penances. In rest two asramas the individual has to perform religious rites and regular study of the Vedas. However, in these four asramas the individual maintained a religious sacred life as prescribed in the Vedas and other scriptures.

7. Yajna and Veda :

According to the Vedic tradition, performance of yajna is essential for every human being as a part of life. It also played an important

role in the spreading of knowledge as on the occasion of their performance learned brahmins were invited. The tradional brahmins chant Vedic mantras in the yajna. Because without mantras the vaidika yajna has no value. The devatas can be invoked through sacred mantras. Henceforth, the rtvik or the purohita of the yajna should be conversant of the Vedas. In the Santiparva the word rtvik is clearly explained as : "those Brahmins who are competent to officiate as priests, i.e. rivik, should know the chandas including the samans and the rites which are laid down in the Srauta literature".

प्रति कर्म पराचार ऋत्विजां स्म विधीयते।

छन्दः सामादि विज्ञाय द्विजानां श्रुतमेव च।। [58]

Thus, it is suggested that a brahmin should perform various kinds of yajnas and istis (sacrificial rites):

इष्टीश्च विविधाः प्राप्य क्रतूंश्चैवाप्तदक्षिणान्। [59]

The main purpose of yajna is to please the gods: " यज्ञः प्रीणाति देवता"[60]. Regarding the shares of sacrifical offering (yajna bhaga) it is mentioned that through the devatas Lord Narayana receives His share and this has been mentioned in the Vedic Sutras.[61].

In the Vedis sacrifice a number of things should not be entertained by the priests. Because wine, fish, honey, meat, alcohol and preparations of rich and seasame seeds have introduced by the knaves. The use of these things in yajnas is not prescribed in the Vedas. As rightly said in the Mahabharata :

सुरा मत्स्या मधु मांसमासवं कृसरौदनम्।

धूर्तैः प्रवर्तितं ह्येतन्नैतद् वेदेषु कल्पितम्।। [62]

Regarding the use of trees (woods of trees) in yajnas the Mahabharata states that those trees should be used in the yajnas, whose names have mentioned in the Vedas:

यज्ञियाश्चैव ये वृक्षा वेदेषु परिकल्पिताः।63

In the epical age kings used to perform different types of yajnas and istis. So in the Mahabharata several yajnas[64] and istis [65] are mentioned. Only names can be mentioned in this brief paper. Asvamedha yajna performed by several kings like Sagar (Mbh XII.29.132), Prthu

(Mbh XII.29.143), Rama (Mbh XII.29.59) and others. Vajapeya yajna was performed by King Yajati (Mbh XII.29.96). However, Rajasuya and Asvamedha sacrifices were performed to raise political status, and also to help the performer to get the heaven. Subjects related to yajna, like vedi [66], kunda [67] and Yupa [68] have also been discussed in the Mahabharata in several places. In a true sense, the Vedic yajnas and their applications have nicely reflected in Mahabharata age.

8. Yugas and Veda :

It is known from the Mahabharata that the peoplr of treata, dvapara and kali ages are inspired with doubts i.e. with reference to the declarations of the sruits. The people however, of the satya-yuga are sincerely devoted to penances, vows, and observant of righteousness. In fact, in that age all people highly regard the Rgveda, the Yajurveda and the Samaveda as identical notwithstanding their apparent diversity. This means the people of satyayuga paid repsect to all the Vedas equally. They have not seen any difference among these Vedas. In the begining of treata yuga, the Vedas, Vedic yajnas and divisions of caste and the several modes of life existed in their entirety. [69] On account of the duration of life of persons being decreased in the dvapara age, those suffer decline, In the dvapara age as well as in the kali age, the Vedas are overtaken by perplexity.[70]

In the kali, age, all the Vedas become so scarce that they may not be seen even by men. Afflicted by inequity they suffer extermination along with the rites and sacrificces laid down in them. As truly said in the Mahabharata.

दृश्यन्ते न च दृश्यन्ते वेदाः कलियुगेऽखिलाः।

उत्सीदन्ते सयज्ञाश्च केवलाधर्मपीडिताः ॥[71]

Therefore, in the kali yuga through universal sin (papa) the Vedas disappear (Mbh XII.238.17). As the rian from the sky causes all products of the earth grow, likewise the Vedas, in every age, develops all its auxiliaries (angas):

सृजते सर्वतोऽङ्गानि तथा वेदा युगे युगे। [72]

Here, 'angani' means the observances necessary for the practice of yoga as also all kinds of rites and vows. The Vedas cause

these to grow, and they in their turn, add all students of the Vedas in achieving their purposese.

9. Philosophical thought and Veda :

In the Mahabharata we find discussions of philosophical views of different religious institutions, The Vedic and Upanisadic philosophy is the main subject matter of the philosophy of the Mahabharata. Yoga philosophy has been preached in the Santiparvan by rsi Yajnavalkya. Samkhya philosophy of Maharshi Kapila has also been discussed in the same parvan. Similarly, the theme of Vedanta, Yoga, Mimamsa philosophy are also found in the Mahabharata. However, a detailed discussion has also been made in various philosophical concepts like : Isvara, Atman jiva, Prakrti, Purusa, dharma-adharma, karma, moksa, mahabhuta, vidya-avidya, etc. The names of sage Kapila, Gautama, and Jaimini are mentioned in the Santiparvan, Even the reference purusa sukta, one of the philosophical suktas of the Vedas, is also occurred in the Santiparva of the Mahabharata. So from the philosophical point of view, Mahabharata records the main theme and concept of Vedic and Upanisadic thoughts.

10 Conclusion :

In the conclusion, it may be said that the Vedic thoughts have been reflected as well as echoed in the Mahabharata. The Vedic subjects like yajna, karma, dharma, darsana, etc, are crystallized and concentrated but these subjects are more extensively discussed and elaborated in this great epic, There is no doubt that the Vedis subjects are more simplified and flourished in the Mahabharata. Some changes of thoughts as we observe in it, are due to changed condition of attitudes and social orders. The doctrines formulated in Vedic time under the then circumsatances might loose their essence in the epical age are conditioned by the change of time and angles of visions for proper perspective, Hence, the epical thoughts and ideas though have their origin in the Vedas are found with a little difference in principles and ethics. Vedavyasa has also stated that the subjects contained in the Mahabharata are the theme of Vedic ideas. Therefore, it is aptly said by him.

इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत् [73]।

REFERENCES

1. कार्ष्णं वेदमिमं विद्वाञ्छ्रावयित्वार्थमश्नुते।। महाभारत (गीता प्रेस संस्करण) 1.62.18.
2. चतुर्भ्यः सरहस्येभ्यो वेदेभ्यो ह्यधिकं यदा।. . .
   महत्त्वे च गुरुत्वे च ध्रियमाणां यतोऽधिकम्।। ibid., 1.1.272cd and 273cd.
   इदं हि वेदैः समितं पवित्रमपि चोत्तमम्।। ibid., 1.62.16 and 49.
3. कृष्णद्वैपायनव्यासो वेदव्यासो महानृषिः। . . .
   वेदानध्यापयामास महाभारतपंचमान्।। महाभारत, शन्तिपर्व, 340.19 – 21.
   Cf. इतिहासपुराणं पंचमं वेदानां वेदम्। Cha Up VII.1.2
4. Mahabharata (Mbh) Santiparva 39.20 (Veda vidusam);

39.32;29.12;25.4;121.51,53 -54;122.47;123.20;128.10;180.47; 182.15;193.10;201.1;220.17;224.46;225.19,25;228.74;241.1,6; 242.3;226.14;265.7;268.8,10,33;297.33;299.24,29;301.46;302.3; 318.10;328.22;339.22;340.22;341.45;342.120;343.12-13,61; 344.12;345.9;348.10,22;349.1,9,11,13,15,41,64,66,69,73;350.19; 354.14, etc.

5. Ibid., XII.335.40.
6. Ibid., XII 339.111,
7. Ibid., XII 297.40, cf, XII.227.60.
8. ज्ञानवित् सर्वभूतानां सर्ववित् सर्ववेदवित्। Ibid., XII.251.3.
9. Ibid., XII.251.18
10. Ibid., XII. 270.43, cf, Mbh XII.270.42.
11. व्यालकुंजर दुर्गेषु सर्पचोर भयेषु च।
    हस्तावापेन गच्छन्ति नास्तिकाः किमतः परम्।। Ibid., XII.181.5
12. Ibid., XII. 180.47 and 49.
13. Ibid., XII.79.19, cf, XII.79.10.
14. Ibid., XII.335.29,cf. XII.335.27-28.
15. Ibid., XII.340.70 ab.
16. मरीचिरङ्गिराश्चात्रिः पुलस्त्यः पुलहः क्रतुः ।
    वसिष्ठश्च महात्मा वै मनुः स्वायम्भुवस्तथा ।।
    ज्ञेयाः प्रकृतयोऽष्टौ तासु लोका प्रतिष्ठिताः।
    वेदवेदांगसंयुक्तान् यज्ञान् यज्ञाङ्गसंयुतान्ः।
    निर्गमे लोकसिद्ध्यर्थं ब्रह्मा लोकपितामहः।
    अष्टाभ्यः प्रकृतिभ्यश्च जातं विश्वमिदं जगत्।। Ibid., XII.340.34-36.
17. Ibid., XII.292.16-17.
18. Ibid., XII.327.49.

19. सोऽधीत्य निखिलान् वेदान् सरहस्यान् ससंग्रहान्। Ibid., XII.324.24
20. Ibid., XII.328.23.
21. Ibid., XII.324.22-23.
22. Ibid., XII.318.11 ab and 16.
23. दशं पंच च प्राप्तानि यजूंष्यकान्मयानघ। Ibid., XII.318.21 ab.
24. वेदश्रुतिभिराख्यानैरर्थानभिजिगीषति।
    तितिक्षुरनवज्ञता तस्मात् सर्वत्र पूजितः।। Ibid., XII.230.12, cf.XII.230.13-20
25. Ibid., XII.335.3.
26. Ibid., XII.342.12.
27. Ibid., XII.342.15.
28. Ibid., XII.232.24 cd-26;XII.232.28.
29. Ibid., XII.347,32-34.
30. Ibid., XII.350.5
31. सहस्रनयनः श्रीमाञ्छतशीर्षः सहस्रपात् ।।
    सहस्रोदरबाहुश्च अव्यक्त इति च क्वचित्।
    ओङ्कारमुद्गिरन् वक्त्रान् सावित्रीं च तदन्वयाम्।।
    शेषेभ्यश्चैव वक्त्रेभ्यश्चतुर्वेदान् गिरन् बहून्।
    आरण्यकं जगौ देवो हरिर्नारायणो वशी।।
    वेदिं कमण्डलुं ... ज्वलितं च हुताशनम्।।
    धारयामास देवोशो हस्तैर्यज्ञपतिस्तदा। Ibid., XII.339.6cd-9.
32. Ibid., XII.340.66cd-67ab.
33. निरुक्तं वेद विदुषो वेदशब्दार्थचिन्तकाः।
    ते मां गायन्ति प्राग्वंशे अधोक्षज इति स्थितिः।। Ibid., XII.342.83.
34. घृतं ममार्चिषो लोके जन्तूनां प्राणधारणम्।
    घृतार्चिरहमव्यग्रैर्वेदज्ञैः परिकीर्तितः।। Ibid., XII.342.85
35. हिरण्यगर्भो द्युतिमान् य एष च्छन्दसि स्तुतः।
    योगैः सम्पूज्यते नित्यं स एवाहं भुविस्मृतः।। Ibid.,342.96.
36. Ibid., XII.342.97-98ab.
37. षट्पंचाशतमष्टौ च सप्तत्रिंसतमित्युत।।
    यस्तिञ्शाखा यजुर्वेदे सोऽहमाध्वर्यवे स्मृतः। Ibid., XII.342.98-99ab.
38. पंचकल्पमथर्वाणं कृत्याभिः परिबृहितम्।। Ibid., XII.342.100cd-102ab.
    कल्पयन्ति हि मां विप्रा अथर्वाणविदस्तथा। Ibid., XII.8.27cd.
39. शाखा भेदाश्च...क्रमाक्षर विभागवित्। Ibid., XII.342.100cd-102ab.
40. अध्येतव्या त्रयी नित्यं भवितव्यं विपश्चिता। Ibid., XII.8.27cd.
    cf. वेदाध्ययन नित्यत्वं क्षमार्थाचार्यपूजनम्। ...ब्रह्माश्रम पदं भवेत्।। Ibid., XII.6.14.
41. Ibid., XII.69.31.
42. अग्नित्रेता त्रयी विद्या यज्ञाश्च सहदक्षिणाः।

सर्व एवं प्रमाद्यन्ति यदा राजा प्रमाद्यन्ति।। Ibid., XII.91.8, cf Mbh XII.91.7.

43. Ibid., XII.132.9.
44. ऋक्सामसंधाश्च यजूंषि चापि च्छन्दांसि नक्षत्रगतिं निरुक्तम्।
अधीत्य च व्याकरणं संकल्पं शिक्षां च...।। Ibid., XII.201.8, cf XII.19.2.
45. भार्गवाच्च्यवनाच्चापि वेदानाङ्गोपबृंहितान्।
प्रतिपेदे महाबाहुर्वसिष्ठाच्चरित व्रत।। Ibid., XII.37.11
46. Ibid., XII.320.5-6.
47. त्रय: शब्दा न जीर्यन्ते ...स्वाध्यायघोषो ...।। Ibid., XII.29.79.
48. ब्राह्मणोऽस्यमुखं ... अजायत। Rgveda. X.90.12.
49. Mahabharata, XII.72.4, cf.XII.72.5-10,also cf.XII.342.20.
50. Ibid., XII.342.14-15.
51. सर्वान् वेदानधीयीत शुश्रूपुब्रह्मर्चवान्।
ऋचो यजूंषि सामानि न तेन न स वै द्विज:।। Ibid., XII.251.2.
52. यथा दारुमयो हस्ती यथा चर्ममयो मृग:।
ब्राह्मणश्चानधीयानस्त्रयस्ते नाम बिभ्रति। Ibid.,XII.36.46,cf.Manusmrti,11.157.
53. Ibid.,(Mbh)XII.297.30.
54. Ibid.,189.5-6.
55. Ibid.,XII.189.7,
56. Ibid.,XII.188.15.
57. Ibid.,XII.243.8.
58. Ibid.,XII.79.2.
59. Ibid.,XII.251.4ab
60. Ibid.,XII.121.37d.
61. यज्ञैर्ये चापि यक्ष्यन्ति सर्वलोकेषु वै सुरा:।।
कल्पयिष्यन्ति वो भागांस्ते नरा वेदकल्पितान्।
यो मे यथा कल्पितवान् भागयस्मिन् महाक्रतौ।।
स तथा यज्ञभागार्हो वेदसूत्रे मया कृते:। Ibid.,XII.340.61cd-63ab.
62. Ibid.,XII.265.9
63. Ibid.,XII.265.11.
64. Ibid.,XII.29.114;24.7;12.17;129.11;284.183;323.9,etc.
65. दशपौर्णमास - MbhXII.29.114;269.20; चातुर्मास्य - Mbh12.29.114;269.20; अग्न्याधान, सोमयाग, चातुर्मास्य - MbhXII.268.38;29.114;269.20; इष्टि - Mbh XII.297.39;244.25.
66. Ibid.,XII.40.12;339.9;343.60.
67. Ibid.,XII.320.180-181
68. Ibid.,XII.27.74;265.8.
69. त्रेतादौ केवला वेदा यज्ञा वर्णाश्रमास्तथा।...Ibid.,XII.238.14ab.

70. द्वापरे विप्लवं यान्ति वेदाः कलियुगे तथा।...Ibid.,XII.238.15ab.
71. Ibid.,XII.232.36.
72. Ibid.,XII.238.18.
73. Ibid.,I.1.267.

Abbreviation

1. RV.-Rgveda
2. Cha Up- Chandogya Upanisad
3. Mbh- Mahabharata (Gita Press Ediction Gorekhpur)

Written by :
डॉ0 नरसिंह चरण पण्डा,
वरिष्ठ अनुसन्धान अधिकारी,
इन्दिरागांधी राष्ट्रीय कला केन्द्र,
B-1/3,E-7, Lane No. -2,
रवीन्द्रपुरी **Ext.**, वाराणसी (**U.P.**) - 221005

कुचेलिनं दन्तमलावधारिणम्,
बह्वाशिनं नित्य-कठोर-भाषिणम्।
सूर्योदये चास्तमये च शायिनम्,
विमुञ्चति श्रीरपि चक्रपाणिम्।।

(मैला-कुचैला रहने वाले, दन्त धावन न करने वाले, अत्यधिक खाने वाले, सर्वदा कटु-कर्कश बोलने वाले, सूर्योदय और सूर्यास्त के समय भी बिस्तर पर पडे रहने वाले अर्थात् इन अवगुणों से युक्त आलसी पुरुष को चाहे वह साक्षात् चक्रवर्ती सम्राट् क्यों न हो-श्री सम्पत्तियाँ-यश-पुरुषार्थ-बुद्धि-विवेक सब छोड़ कर चले जाते हैं।)

"वैदिक यज्ञ एवं भारतीय संस्कृति"

● भारतीय धर्म तथा सभ्यता एवं संस्कृति का भव्य प्रासाद जिस दृढ़ आधार पर प्रतिष्ठित है, वह वेद है। वेद हिन्दू समाज की अमूल्य निधि है तथा इन्हे प्राचीन भारत की सभी विद्याओं और कलाओं का मूल माना जाता है। आर्य संस्कृति के सर्वप्रथम दर्शन हमें वेदों में होते है। यह कहना अनुचित न होगा कि वेदों में आर्य संस्कृति की आत्मा सन्नहित है। भारतीय संस्कृति सम्पूर्ण प्रेरणा वेदों से ही प्राप्त करती है।[1] मैक्समूलर ने भी लिखा है,"ऐसा प्राय: निश्चित माना जाता है कि न केवल भारत वरन् प्राचीन विश्व के इतिहास में वेदों का स्थान अत्यन्त ही महत्वपूर्ण है।[2]

भारतीय आचार विचार, रहन सहन तथा धर्म-कर्म को समझने के लिए वेदों का ज्ञान अत्यंत आवश्यक है। सम्पूर्ण धर्म एवं कर्म का मूल तथा यथार्थ कर्त्तव्य धर्म की जिज्ञासा के समाधान हेतु वेद सर्वश्रेष्ठ प्रमाण है मनुस्मृति में आया है -

"वेदों धर्मं मूलम। धर्म जिज्ञासामानानां प्रमाणं परमं श्रुति"[3] वस्तुत: वेद शाश्वत् यथार्थ ज्ञान राशि के समुच्चय है, जिसे हमारे ऋषियों ने अपने अप्रतिम चक्षुओं से देखा एवं अनुभव किया। ऋषियों ने अपने मन या बुद्धि से कोई कल्पना न करके एक शाश्वत आपैरूषेय सत्य की, अपनी चेतना के उच्चतम स्तर पर अनुभूति की और उसे मंत्रों का रूप दिया। वे चेतना क्षेत्र की रहस्यमयी गुत्थियों को अपनी आत्मसत्ता रूपी प्रयोगशाला में सुलझाकर सत्य का अनुशीलन करके उसे शक्तिशाली एवं प्रभावशाली काव्य के रूप में अभिव्यक्त करते रहे है।

वेद संख्या में चार है। ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद एवं अथर्ववेद। वेद दीर्घकाल तक भारतीय जनजीवन के अंग है ऐसा प्रतीत होता है कि वर्तमान काल में भारतीय जन-जीवन वेद विज्ञान से बहुत दूर जा पड़ा है। किन्तु आज भी यजुर्वेद जन-जीवन में अपना स्थान किसी न किसी रूप में बनाएं हुए है। देव संस्कृति के अनुयायी पश्चिमी सम्यता से कितने ही प्रभावित क्यों न हो गए फिर भी जन्म से लेकर मृत्यु तक विभिन्न संस्कार परक कर्मकाण्डों से उनका सम्बंध आज भी थोडा बहुत बना ही रहता है। संस्कारों एवं यज्ञीय कर्मकाण्डों के अधिकांश मंत्र यजुर्वेद के ही है। उनकी मंत्रशक्ति एवं प्रेरणाओं का सम्पर्क जनजीवन के साथ निरंतर बना हुआ है।

यजुर्वेद के मंत्रों को यजु (यजुष) कहते है। पाणिनी ने 'यज्ञ' की उत्पत्ति "यज्ञ" धातु से की है। यजुर्वेद में विशेष रूप से यज्ञ एवं कर्मकाण्ड को प्रधानता दी गई है। विभिन्न यज्ञों के समय उच्चरित किये जानेवाले मन्त्रों का इसमें संग्रह है। इसे अध्वयुर्वेद भी कहा जाता है। 'अध्यवर्यु का शाब्दिक अर्थ भी यज्ञ होता है। यजुर्वेद को 40 अध्यायों में बांटा गया है कुछ विद्वानों का मत है कि इसमें प्रथम अठारह अध्याय ही थे शेष अध्याय बाद में मिलाये गये।[4] डा. विमलचन्द्र पाण्डे ने लिखा है यजुर्वेद की पांच शाखाये है। 1. काष्क कपिष्हल 2.. मैत्रायणी तैत्तिरीय और बजसने थी। उनका विचार है कि प्रथम चार शाखाओं में कोई विशेष अन्तर नहीं है। ये शाखाऐं कृष्ण यजुर्वेद के अन्तर्गत परिणत होती है। 3. पांचवी शाखा वाजसनेयी को शुक्ल यजुर्वेद के अन्तर्गत रखा जाता है।[5] यजुर्वेद के मंत्र गद्यात्मक है ब्राह्मण ग्रंथ में 'यजुष्' को यज् धातु से सम्बद्ध बताया गया है इस प्रकार यज, यज और यज्ञ तीनों एक दूसरे के पर्याय होते है। ब्रह्मपुराण में आया है।

यथा - यच्छिष्टं तु यजुर्वेद तेन यज्ञमयुज्जत
यजनात् स यजुर्वेद इति शास्त्रविनिश्चय:।।[6]

यजुर्वेद में जो कुछ भी प्रतिपादित है, उसी से यज्ञ का यजन किया जाता है। विशेष बात यह है कि यज्ञ अथवा यजन को केवल लौकिक अग्निहोत्रपरक कर्मकाण्ड तक ही सीमित नही माना जा सकता। पाणिनी ने 'यज्ञ' धातु का अर्थ देवपूजन संगीत एवं दान किया है। इस आधार पर अपने से उत्कृष्ट चेतन सत्ता के प्रति श्रद्धा का विकास एवं उसकी अभिव्यक्ति उस दिव्य अनुशासन में संगठित हो कर कर्म का अनुष्ठान तथा इस प्रकार प्राप्त विभूमियों को कल्याणकारी प्रयोजनों के लिए समर्पित करना, यह सब क्रियाएं यज्ञ के अंतर्गत आती है। वेद में वर्णित यज्ञ को ऐसे ही व्यापक अर्थो में लेना चाहिए। यज्ञ को व्यापक अर्थ में लेने के संदर्भ में प्राचीन एवं नवीन, सनातनी तथा आर्यसमाजी सभी विद्वान एकमत है। गीताकार ने भी "सहयज्ञा: प्रजा: सृष्ट्वा" कहकर यज्ञ के व्यापक भाव को ही उभारा है।

यज्ञ की दो मुख्य धाराएं कही जा सकती है। प्रथम यज्ञ का वह सनातन रूप जो अनादि काल से चल रहा है, जिससे विश्व की सृष्टि हुई तथा जिसके अंतर्गत सृष्टि का पोषण एवं परिवर्तन चक्र चल रहा है। द्वितीय यज्ञ का लौकिक रूप, जो संकल्प पूर्वक किया जाता है जिसके अंतर्गत अग्निहोत्र आदि विधि यजन कर्मकाण्ड आते है तथा जिसकी व्यवहार में जीवन यज्ञ के रूप में अनिवार्यता होती है। इस भौतिक यज्ञीय प्रक्रिया का मूल सूत्र है, अपने अधिकार और क्षेत्र की उपयोगी वस्तु को देवकार्यो अथवा लोकमंगल के लिए समर्पित कर देना। मीमांसाकारों ने यज्ञ के लौकिक कर्मकाण्डों को ही मुख्यत: महत्व दिया किन्तु वेद यज्ञ की सृजनात्मक एवं पोषणात्मक सनातन धारा से ओतप्रोत है।

ऋग्वेद के पुरूषसूक्त में विराट् यज्ञ पुरूष से ही सारी सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन है।

यथा - तस्माद् यज्ञात्सर्वहुत ऋच: सामानि जज्ञिरे
छन्दा ᳪ सि जज्ञिरे तस्माद् यजु : तस्मादजायत।।[7]

अर्थात् उस सर्वहुत यज्ञ से ऋचाओं एवं साम आदि की उत्पत्ति हुई। उसी प्रकार से छंद एवं यजु भी उत्पन्न हुए। यह सर्वहुत यज्ञ जैसे जैसे विकसित होता है वैसे वैसे सृष्टि का विकास भी होता जाता है। सृष्टि के पोषण, संचालन के लिए भी उसी विराट सत्ता का यजन किया जाता है। यह विशिष्ट यज्ञ प्रकृति में सदैव चलता ही रहता है।

यथा - यत्पुरूषेण हविषा देवा यज्ञमतन्वत।
वसन्तोऽस्यासीदाज्यं ग्रीष्म ऽ दूध्म शरद हवि:।।

जब देवगणों ने उस विराट् चेतना से यज्ञन किया तो उस यज्ञ में बंसत ऋतु आज्य के रूप में, ग्रीष्म ऋतु ईधन के रूप में तथा शरद ऋतु हवि के रूप में प्रयुक्त हुए। वेद में यज्ञ के विराट् स्वरूप के दर्शन बहुत रूप में स्थान स्थान पर होते रहते हैं। लौकिक संदर्भ में भी शास्त्रकारों ने रूप को दिव्य अनुशासन में किए गए श्रेष्ठ कर्म की संज्ञा दी है।

"यज्ञो वै श्रेष्ठतं कर्मं" श्रेष्ठतम कर्म ही यज्ञ है। उक्ति से यह भाव प्रकट होता है।

मनुस्मृति के अनुसार वेदाध्ययन ब्रह्मयज्ञ है, तर्पण पितृ यज्ञ है, होम आदि कर्म देवयज्ञ है, बलिवैश्व भूत यज्ञ है तथा अतिथि को तृप्त करना, मनुष्य यज्ञ है।

निर्धारित एवं श्रेष्ठ कर्मों को ही यज्ञ कहा जाता है। यह भाव विभिन्न ग्रंथों में जगह-जगह स्पष्ट रूप से वर्णित है। महाभारत में आया है।

आरम्भ यज्ञा: क्षत्राश्च हविर्यज्ञा विश: स्मृता:।
परिचारयज्ञ: शूद्राश्च जपयज्ञं द्विजास्थता।।[9]

अर्थात् क्षत्रियों के लिए पराक्रम उद्योग यज्ञ है। होम आदि वैश्यों का यज्ञ है। शूद्रों का यज्ञ श्रेष्ठ सेवा कार्य है तथा ब्राह्मणों के लिए जप-तप आदि कर्म यज्ञ है।

अग्निहोत्रपरक यज्ञ अग्नि में सामग्री डाल देने जैसी छोटी क्रिया तक ही सीमित नहीं माना जा सकता। उसके साथ ही प्रवृत्तियों का शोधन, पर्यायवरण का संतुलन एवं श्रेष्ठ सामाजिक परम्पराओं के विस्तार जैसे लक्ष्य जुडे हुए है। मीमांसा दर्शन के अष्टम पाद के सूत्र में सपष्ट कहा गया है कि यज्ञ केवल धन व्यय करने से सिद्ध नहीं होता वरन् तप आदि करना आवश्यक है।

विद्वानों का मत है कि विधिवत् किए गए यजन कार्य से प्रकृति के संतुलन चक्र को सहयोग मिलता है। इस दृष्टि से वेद में यजन कर्म का महत्व बताते हुए कहा गया है।

इयं वेदि: परोअन्त: पृथिव्याऽ अयं यज्ञों भुवनस्य नाभि:।[10]

इसका भाव यह है कि यज्ञ वेदिका पृथ्वी का अंतिम छोर है और यह यज्ञ इसका नाभि केन्द्र स्थान है। अंतिम छोर तक पहुँचना पुरूषार्थ की उत्कृष्टता का द्योतक है। पृथ्वी पर सर्वश्रेष्ठ पुरूषार्थ यज्ञानुष्ठान है।

अंतत: यह कहा जा सकता है कि यज्ञ भारतीय संस्कृति के प्राण है।

डॉ0 राकेश शर्मा
डॉ0 रश्मि सिन्हा

---

1. डॉ0 शिवदत्त ज्ञान वेदकालीन समाज पृ0 28
2. मैक्समूलर चिप्स फ्रम ए.जर्मन वर्कशाप पृ0 4
3. मनुस्मृति 2/6/3
4. मैफ्डानेल, हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर पृ0 175-176
5. विमलचन्द्र पाण्डेय प्रा0भा0 का राजनैतिक तथा सांस्कृतिक इतिहास पृ0 38
6. बह्मा पुराण -2, 34
7. ऋग्वेद - 10/90/09 तथा यजुर्वेद 31/7
8. यजुर्वेद 31/14
9. महाभारत शान्तिपर्व 367,12
10. यजुर्वेद 23/62

प्राचीन भारतीय सैनिक शिक्षा में संस्कृत की अनिवार्यता : वासिष्ठी धनुर्वेद संहिता के परिप्रेक्ष्य में

सन् 1899 ई. में खेतडी नरेश जू महाराज के सम्मानित पंडित हरदयालु स्वामी द्वारा अनुवादित वासिष्ठी **"धनुर्वेद संहिता"** पं0 ईश्वरीप्रसाद रामचन्द्र ने संस्कृत पुस्तकालय सदर बाजार, मेरठ से प्रकाशित की। इसके पूर्व इस संहिता के तीन अन्य संस्करण भी उपलब्ध थे, ऐसा इस संस्करण (मेरठ) की भूमिका में पंडित हरदयालु ने लिखा है। ये चूरू, अलीगढ़ और खड्ग विलास यन्त्रालय से प्रकाशित हुए थे।

मेरठ से प्रकाशित इस संहिता की विषय-अनुक्रमणिका में लगभग 40 विषय हैं। इसके **शिक्षा** नामक प्रकरण में पठन-पाठन विधि का निर्देश करते हुए लिखा गया है:

"तत्रादौ पठनपाठनविधिं ब्रूम: / आदौ क्षात्रकोशव्याकरणसूत्राण्यध्येतव्यानि द्वावध्यायौ सप्तमाष्टमौ मनोर्मिताक्षरा व्यवहाराध्यायश्च जयार्णव विष्णुयामल विजयाख्य स्वरशास्त्राण्यक्षराणि व पठितव्यानि तत: सरहस्यं धनुर्वेदमापठेत्।।"[1]

अर्थ– अब पठन-पाठन की विधि कहते हैं। पहले क्षात्रकोश, व्याकरण सूत्र पढ़ने चाहिये। दो अध्याय सातवां और आठवां मनु (स्मृति) का तथा व्यवहाराध्याय मिताक्षरा धर्मशास्त्र, जयार्णव, विष्णुयामल, विजयाख्यतन्त्र और स्वर-शास्त्र पढ़ने चाहिये, इनको पढ़कर रहस्य सहित धनुर्वेद गुरु से पढ़े।

व्याकरण शिक्षा– 'अथ सेनानय:' प्रकारण में व्याकरण शिक्षा की अनिवार्यता का उल्लेख करते हुए महर्षि वसिष्ठ विश्वामित्र को कहते हैं:-

"तत्रादौ व्याकरण शिक्षां वक्ष्यामो राज्ञे।
नृपतिर्लोट्लकारस्य कुर्यात्कंठस्थितानि च।
रूपाणि कार्यसिध्यर्थं ह्याज्ञैषा मम गाधिज।।
मध्यमपुरुषस्यैव प्रयोगान्यो विचिन्तयेत्।
सेनानी: प्रतिदिनं सम्यक् न केनापि स हन्यते।
मध्यम पुरुषोद्भूता: प्रयोगा: सर्वसिद्धिदा:।
तैरेव साधयेदाज्ञां पुरुषा राजभृत्यका:[2]।।

अर्थात् अब सेना के कवायद का प्रकरण कहते हैं। कितना व्याकरण पढ़ना चाहिये। राजा नौ लकारों का रूप छोड़कर केवल लोट् लकार के रूपों को कण्ठ करें, कार्य की सिद्धि के लिये हे विश्वामित्र! मेरी यह आज्ञा है और सेनापति लोट् लकार के मध्यम पुरुष के ही रूप याद करै वह किसी से भी न मारा जाये, मध्यम पुरूष के बहुवचन के प्रयोग ही सिद्धि के देने वाले हैं, छोटे-छोटे ओहदेदार उनसे ही राजा की व अपनी आज्ञा का पालन करैं।

इसी प्रकरण में आगे सोदाहरण **धातुरूपपाठ** भी दिया गया है। इसमें जिन 54 धातुओं के

मध्यम पुरुष प्रयोगों को प्रदर्शित किया गया है वे धातुयें इस प्रकार हैं-

भू सत्तायाम्, भक्ष भक्षणे, सिंच सिंचने, शु श्रवणे, चल चलने, ज्ञा अवबोधने, कृवि कीर्णे, पा पाने, ष्ठा गतिनिवृतौ, त्यज त्यागे, मनु ज्ञाने, मिल मिलने, दा दाने, इण्गतौ, णीञ् प्रापणे, गृह उपादाने, पत्लृ पतने, रुधिरावरणे, कृष विलेखने, आप्लृ व्याप्तौ, चिति संज्ञाने, व्रजगतौ, कृन्त कर्त्तने, व्यध् वेध ने, डुकृञ् करणे, हन् हिंसागत्योः, रच रचने, गम्लृगतौ, विद् ज्ञाने, भुज पालनाऽभ्यवहारयोः, दृशिर्प्रेक्षणे, शीङ् स्वप्ने, एच्छ वीप्सायाम्, क्रमु पादविक्षेपे, अद् भक्षणे, दह भस्मीकरणे, गण संख्याने, ब्रूञ् व्यक्तायाम्, गै शब्दे, भिदिर् विदारणे, इषु इच्छायाम्, मृच्लृ मोचने, जागृ निद्राक्षये, कुथि हिंसायाम्, क्षिप् प्रेरणे, तनु विस्तारे, शासु अनुशिष्टौ, लिख् लिखने, या प्रापणे, अस् भुवि, मिह सेचने, विश् प्रवेशने, जि जये।

उपर्युक्त धातुपाठ के अतिरिक्त इस धनुर्वेद संहिता में **सोपसर्ग विश् धातु** का प्रवेशनार्थ में प्रयोग भी सम्बन्धित अधिकारी को करने का निर्देश दिया गया है। उपसर्ग सहित और उपसर्ग रहित इन सभी के वाक्य प्रयोग भी दर्शाये गये हैं। ये सब प्रयोग **क्रमः, धावन प्रकारः, अन्यच्च और सेनानी** पाठों में दिये गये हैं।[3]

अव्यय पाठः प्रकृत संहिता में आवश्यक अव्ययों का पाठ भी मिलता है। ये अव्यय इस प्रकार हैं[4] आङ् मा, नो-आम्, वाढम्, अद्य, सायम्, प्रातः, श्वः, ह्यः, परश्वः, अन्येद्युः, उभयेद्युः, त्वम्, युवाम्, यूयम्, अहम्, आवाम्, वयम्, संज्ञा, सः, तौ, ते, अलम्, सपदि, तूणम्, उपरि, अधः,अ-प्र अनु-उप।''

उपर्युक्त अव्ययों के अन्तर्गत इस संहिता में युष्मद्, अस्मद् और तद् शब्दों के प्रथमाविभक्तिरूपों को भी लिया गया है। जो कि उचित नहीं है। क्योंकि *'अव्यय'* की परिभाषा के अनुसार इनके रूप एक से ही रहते हैं, इनमें किसी भी प्रकार का परिवर्तन नहीं होता है। जैसा कि कहा भी गया है-

सदृशं त्रिषु लिङ्गेषु सर्वासु च विभक्तिषु। वचनेषु च सर्वेषु यन्न व्येति तदव्ययम्।।

इस प्रकार निष्कर्ष रूप में हम यह कह सकते हैं कि प्राचीन भारत में संस्कृतभाषा न केवल साहित्यिक भाषा ही थी अपितु, राजकाज की भाषा होने के साथ-साथ सैनिक शिक्षा में भी इसकी अनिवार्यता थी। इस शिक्षा में व्याकरण के अत्यन्त उपयोगी सूत्रों, मनुस्मृति के राजधर्म-सम्बन्धी प्रकरणों, धर्मशास्त्र के व्यवहाराध्याय प्रकरणों की शिक्षा भी दी जाती थी।

---

1. देखो पृ0 78
2. देखो, पृ0 67
3. देखो, पृ0 71-73
4. देखो, पृ0 73

डॉ0 दिनेशचन्द्र शास्त्री, डी0लिट्
रीडर-वेद विभाग
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

भाषा – दर्शन

भाषा की उत्पत्ति विषयक जिज्ञासा को शान्त करने के लिये भाषा – विद मुख्य रूप से दो मार्गों की चर्चा करते हैं:

(1) प्रत्यक्ष मार्ग

(2) अप्रत्यक्ष मार्ग

भाषा की उत्पत्ति से सम्बन्धित विचार, मत या वाद 'प्रत्यक्ष मार्ग' के अन्तगर्त आते हैं। भाषा के विकास के अपरोक्ष कारणों को लेकर अध्ययन जैसे – बच्चों की भाषा, आदि – वासियों की भाषा तथा आधुनिक भाषाओं का अध्ययन आदि को 'अप्रत्यक्ष मार्ग' कहा जाता है। प्रस्तुत शोध लेख में मेरा अभिप्राय, जैसा कि लेख के शीर्षक से ही स्पष्ट है भारतीय दर्शन में 'भाषा' का निरूपण करना है। अत: भाषा की उत्पत्ति से सम्बन्धित विभिन्न सिद्धान्तों का मैं यहाँ उल्लेख नहीं करूंगी। फिर भी इतना कहना तो तर्क संगत एवं लेखानुकूल ही है कि वैदिक विचार धारा के अनुसार भाषा का निर्माण स्वयं ईश्वर ने किया है। इसी धार्मिक मान्यता के आधार पर भारतीय (हिन्दू) संस्कृत भाषा को 'देव – वाणी' कहते हैं, तथा मानते हैं कि देववाणी से ही अन्य भाषाओं की उत्पत्ति हुयी[1]।

यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि महर्षि पाणिनि ने अपने चौदह प्रत्याहार सूत्रों को 'माहेश्वर – सूत्र कहा है तथा भगवान शंकर के डमरू की ध्वनि से उनका उत्पन्न होना स्वीकार किया है।[2]

भले ही भाषा की उत्पत्ति के विषय में एक निश्चित मत का अभाव है, फिर भी सभी भाषा – विद इस बात पर मतैक्य रखते हैं कि 'भाषा' की श्रेणी 'ध्वनि' से अधिक उत्तम है। यह भाषा है क्या? इसका उत्तर यह है कि शब्द तथा अर्थ के परस्पर सम्बन्ध को 'भाषा' कहते हैं।

पुन: प्रश्न किया जा सकता है कि यह 'शब्द' क्या है? इसके उत्तर के लिये मैं व्याकरण की सहायता लेती हूँ, जिसके अनुसार 'शब्द' वह ध्वनि है जिसके उच्चारण से किसी विशेष अर्थ का ज्ञान होता है। इस प्रकार के शब्दों के लिये भर्तृहरि ने 'उपादान' शब्द का प्रयोग किया है[3]। यहाँ यह जानना भी महत्वपूर्ण है कि वाचक शब्द को उपादान कहते हैं[4]। अत: यह स्पष्ट है कि शब्द हम उसे कहेंगे जिसमें अर्थ बोध की क्षमता हो। शब्द विमर्श से अभिन्न है, फलत: शिवरूप है और स्व – पर प्रकाशक है।

दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि मनुष्य अपने कामों के द्वारा जिसका प्रत्यक्ष ज्ञान करता है वही गुण शब्द की संज्ञा से विभूषित होता है[6]।

उदाहरण के लिये 'हाथी' शब्द को लेते हैं जिस का अर्थ है "लम्बी सूँड, दो बड़े – बड़े दाँत और चार पैरों वाला पशु।" हाथी शब्द का उच्चारण करते ही हमारे सामने एक भारी भरकम डील – डौल शरीर वाले पशु की आकृति खड़ी हो जाती है। शब्द और अर्थ का परस्पर सम्बन्ध, वाचक और वाच्य का सम्बन्ध कहलाता है। यहाँ यह ध्यान देने योग्य बात है कि सभी शब्द हमेशा सबके लिए वाचक का कार्य नहीं करते हैं और न ही सभी अर्थ को हम वाच्य कह सकते हैं। वाच्य अर्थात् अर्थ के साथ सम्बन्ध ही वाचक कहलाता है। अत: हम 'लम्बी सूँड', दो बड़े बड़े दाँत और चार पैरों वाले पशु की और 'हाथी' शब्द के उस वाच्य के साथ सम्बन्ध को अर्थ की संज्ञा देते है। अर्थात् हम पहले अर्थ को 'वाच्य' और दूसरे को 'अर्थ' कहें तो गलत नहीं होगा।

अत: स्पष्ट है कि शब्द तथा वस्तु के पारस्परिक सम्बन्ध का ज्ञान ही शब्द का अर्थ कहलाता है। ('ज्ञान शब्द से हमारा तात्पर्य केवल किसी वस्तु के विषय में जानना नहीं है।') शब्द और अर्थ के सम्बन्ध को तत्काल ग्रहण न कर सकने पर भी हमें शब्द के अर्थ का ज्ञान होता है। यदि हम शब्द और अर्थ के सम्बन्ध के ज्ञान की बात करते हैं तो उस सम्बन्ध का ज्ञान हमें उस शब्द को प्रयोग करते समय ही होना चाहिए। इससे स्पष्ट होता है कि जब हमारी बुद्धि में एक विशेष परिवर्तन होता है अर्थात् जब हमें प्रत्यक्षीकरण होता है जिसमें हमारी चेतनता शब्द और अर्थ के सम्बन्ध को अपने अन्दर ले लेती है तब हमें सम्बन्ध ज्ञान और रस बोध होता है। रस बोध की उत्पत्ति तब होती है जब मनुष्य को ज्ञान की प्राप्ति होती है। उसे बोध कहा जाता है जो कि ज्ञान का ही परिणाम होता है। वाच्य और वाचक का सम्बन्ध शब्द के द्वारा ही प्रमाणित होता है।[7] इसलिए हम उसे शब्द के अर्थ की संज्ञा देते हैं। शब्द के 'सम्बन्ध ज्ञान' से अर्थ का बोध होता है इसलिए शब्द को अगर हम शब्द-बोध कहें तो ठीक होगा।

शब्द के दो रूप हैं, अव्यक्त और व्यक्त। इन्हीं को क्रमश: ध्वनि और वर्ण भी कहा जाता है[8]। अक्षरों के समूह को शब्द कहा जाता है। अक्षरों को यदि कहा जाये तो ये विशेष ध्वनियाँ ही हैं। यदि इनको ध्वनियाँ लिखा जाय तो ये विशेष आकृतियों का रूप धारण कर लेते हैं। ध्वनियाँ उच्चारण के पश्चात नष्ट हो जाती हैं। इसलिए ध्वनियों का समूह कभी भी संभव नहीं हो सकता क्योंकि समूह एक साथ रहने वाली वस्तुओं का नाम है। अक्षर का समूह भी संभव नहीं है क्योंकि ये एक साथ नहीं रह सकते। परन्तु अक्षर उच्चारण के पश्चात् श्रोत्रा के मन में एक विशेष प्रभाव छोड़ जाते हैं। इस प्रकार के बहुत से प्रभावों (संस्कारों) के एकतित्र होने पर ही शब्द बनता है।

व्यक्त शब्द का ही शास्त्रीय विवेचन होता है। व्यक्त शब्द को प्रमाण के रूप में भी लिया जाता है।[9] जिसके तीन रूप है - वर्ण, पद और वाक्य। क्योंकि एक पूर्ण अर्थ का ज्ञान श्रोत्रा को वाक्य से ही होता है, इसलिए वाक्य को हम शब्द का प्रमुख रूप कह सकते हैं। शब्द के अभिप्राय को दूसरे तक पहुँचाने के कार्य का साधन वाक्य है, इसलिए शब्द-बोध के अन्तगर्त आए 'शब्द' को वाक्य का पर्यायवाची मानना चाहिए। इसलिए शब्द बोध को वाक्यार्थ-ज्ञान भी कहा जाता है।[10]

वस्तुत: शब्द और अर्थ से सम्बन्धित अनेक सिद्धान्त हैं लेकिन प्रस्तुत लेख में मैं केवल वैयाकरणों के 'स्फोट सिद्धान्त' का ही उल्लेख करूँगी।

भाषा के लिए शब्द और अर्थ के परस्पर सम्बन्ध की आवश्यकता होती है। अर्थ बोध कराने की क्षमता शब्द की सार्थकता है। शब्द और अर्थ एक दूसरे से उस आधार पर सम्बन्धित होते हैं जिसके बारे में अनेक सिद्धान्त हैं। 'न्याय' के अनुसार किसी शब्द को उसके अर्थ के साथ जोड़ने के लिए किसी व्यहक्ति की इच्छा आवश्यक होती है। जब कोई व्यक्ति यह इच्छा करेगा कि इस शब्द से इस अर्थ का बोध हो, तभी उस शब्द की अर्थ-बोध परम्परा प्रारम्भ होगी। अत: अर्थ-बोध कराने की इच्छा ही शब्द और अर्थ का सम्बन्ध है। ''मीमांसकों' के अनुसार इनका सम्बन्ध स्वाभाविक होता है। किसी शब्द से इसके अर्थ का ज्ञान करने के लिए हम यह नहीं ढूढते कि किस व्यक्ति ने अर्थ बोध कराने की इच्छा की, बल्कि भाषा में शब्द का प्रयोग देख कर हम जान लेते हैं कि कौन शब्द स्वाभाविक रूप से इस अर्थ का बोध कराएगा। शब्द का यह स्वभाव ही है कि भाषा में प्रयोग करते समय उससे किसी न किसी अर्थ का बोध अवश्य होता है। वैयाकरणों के अनुसार शब्द तथा अर्थ का सम्बन्ध 'नित्य' है।[11] जब से भाषा है तब से ही शब्दार्थ सम्बन्ध चलता आ रहा है।

भर्तृहरि ने भाषा को मानते हुए शब्दार्थ सम्बन्ध को सिद्ध या नित्य सम्बन्ध माना है। इस मत पर विचार करते हुए हमें देखना है कि शब्द और अर्थ क्या हैं और इनमें नित्य सम्बन्ध किस परिस्थिति में माना जा सकता है। शब्द वह है जिसका हम उच्चारण करते हैं। उच्चारण क्रमश: होता है। दो ध्वनियों का एक ही काल में उच्चारण नहीं हो सकता, इसलिए उच्चारण के आधार पर शब्द की एक इकाई हमें प्राप्त नहीं हो सकती। अर्थात ध्वनियों का समूह नहीं हो सकता। इसलिए शब्द भी नहीं हो सकता। जब शब्द ही नहीं है तब उनसे किसी के सम्बन्ध की बात ही नहीं उठती। नैयायिकों ने इस कठिनाई को दूर करने के लिए कहा कि अलग-अलग ध्वनियां हमारे मन में संस्कार जगाती हैं, और इसी के आधार पर शब्द की इकाई बनती है। परन्तु वैयाकरण कहेगा कि तब तो ध्वनि रूप शब्द नहीं है बल्कि संस्कार रूप शब्द है क्योंकि हम शब्द को मूल रूप से बौद्धिक या मानसिक मानते है। भर्तृहरि ने कहा कि हरेक शब्द को बोलने के पीछे कोई विचार होता है। शब्द की ध्वनियां इस विचार को प्रकट करती हैं न कि ध्वनियों से विचार बनते हैं। इसलिए शब्द विचार रूप हैं।

अर्थ शब्द के भी कई अर्थ हैं। देशकाल में स्थित वस्तु अर्थ कहलाती है। शब्द के द्वारा बहुत सी ऐसी वस्तुओं का भी बोध होता है जिनका कोई अस्तित्व नहीं है। जैसे 'अथवा' और 'आदि'। जहां तक वास्तविक वस्तु का सवाल है यह अपने आप में जो भी हो, उनका भाषा से कोई सीधा सम्बन्ध नहीं है। किसी वस्तु को देख कर हम इसका नाम नहीं जान लेते। इसलिए भाषा के संदर्भ में जो वस्तु अर्थ बनती है वह वस्तु वक्ता के विचार में निहित होती है और श्रोता जब वक्ता की भाषा को समझता है तब उसके मन में भी विचार रूप वस्तु का ही अस्तित्व होता है। इस तरह भाषागत अर्थ शब्द की तरह विचार में ही निहित है।

यदि भाषा और अर्थ दोनों का अस्तित्व विचार में है तब सम्पूर्ण भाषा का व्यापक क्षेत्र वैचारिक हो जाता है। विचार क्या है? इसको स्पष्ट करते हुए भर्तृहरि ने कहा कि सभी विचार या प्रत्यय शब्द से सर्वदा गुथे हुए रहते हैं। शब्द रहित विचार, विचार ही नहीं हो सकता है। इसलिए मनुष्य के मन में जब अपने विचार को दूसरे तक पहुँचाने की इच्छा जागृत होती है तब यह विचार शब्द की ध्वनियों के माध्यम से प्रस्फुटित होता है और श्रोता के कानों में पहुँच कर उसके मन में पहले से स्थित विचार को प्रस्फुटित करता है। वक्ता और श्रोता दोनों के मन में सोए हुए विचार फूट पड़ते है। इसी को 'स्फोट' कहा जाता है[12]।

हमने देखा है कि अर्थबोध बुद्धि में स्थित अस्फुटित शब्दार्थ के स्फोट के कारण ही संभव है। अस्फुटित का स्फोट प्रतिभा के कारण संभव होता है। भर्तृहरि ने बताया है कि जिस प्रकार बसन्त ऋतु के आने पर कोयल कूँकने लगती है उसी प्रकार उचित अवसर आने पर व्यक्ति के विचार शब्द के माध्यम से प्रकट होने लगते हैं। अस्फुटित के स्फोट को प्रतिभा के कारण होने पर चार भिन्न स्तरों से गुजरना पड़ता है। ये स्तर परा, पश्यन्ति, मध्यमा और बैखरी के नाम से जाने जाते हैं।[13] परा[14] अस्फुटित स्तर है, पश्यन्ति[15] में ज्ञान अर्थ के प्रति उन्मुख होता है। मध्यमा [16] में, ज्ञान में शब्द उत्पन्न होकर भासित होने लगता है, और वैखरी[17] में वह शब्द कंठ से निकलता है। ये चारों स्तर स्फोट के विकास क्रम को बतलाते हैं।

अस्फुटित अवस्था में शब्द और अर्थ का अलग अलग ज्ञान नहीं रहता। इसलिए उस अवस्था में प्रत्येक शब्द हर किसी अर्थ का बोध कराने की क्षमता रखता है। शब्द में अपनी कोई ऐसी बात नहीं होती जिससे वह किसी विशेष अर्थ का बोध कराए। जैसे- 'कलम' शब्द दुनियां की किसी भी चीज

को बताने की क्षमता रखता है। शब्द की यह असीमित वाचकता शक्ति सारी भाषा के मूल में निहित है। व्यवहार के लिए असीमित को सीमित करना पडता है तभी हम किसी शब्द से किसी विशेष अर्थ का ज्ञान प्राप्त करते है। इसी तरह अर्थ में असीमित वाच्यता होती है। कोई अर्थ किसी भी शब्द द्वारा व्यक्त किया जा सकता है। शब्द और अर्थ की असीमित वाच्य वाच्यकता इस बात को बताती है कि कोई व्यक्ति न तो शब्द को अर्थ देता है और न किसी अर्थ को शब्द के साथ जोड़ता है। जोड़ने की यह प्रक्रिया भ्रम मात्र है। 'बल्कि यूँ कहा जा सकता है कि शब्दत्वेन शब्द में सामान्य अर्थ बोधकता शक्ति न हो तो कोई व्यक्ति किसी नए शब्द को लेकर उसको किसी अर्थ के साथ जोड़ ही नहीं सकता। इसी बात को ध्यान में रखते हुए वैयाकरणों ने शब्द और अर्थ के सम्बन्ध को सिद्ध या नित्य माना है।

स्फोट के इस सिद्धान्त का अन्य दार्शनिकों ने खंडन करते हुए कहा है कि अनुभव में बिना शब्द के अर्थ का और बिना अर्थ के शब्द का ज्ञान हमें होता है। जैसे - हमारे मन में कभी कभी कुछ ऐसी बातें आ जाती हैं जिनको व्यक्त करने के लिये शब्द नहीं मिलते। इसी तरह निरर्थक शब्द भी मिलते है। अत: यह कहना कि शब्द तथा अर्थ सर्वदा एक दूसरे से मिले होते हैं ठीक नहीं जँचता। एक अन्य बात स्फोट की आलोचना करते समय कही गयी है कि शब्द की असीमित शक्ति को सीमित किया जाता है। लेकिन देखने में आता है कि हम नित्य नए - नए शब्द बनाकर नयी - नयी वस्तुओं का बोध कराते हैं। नवजात शिशु को नया नाम देते हैं अर्थात् शब्द को अर्थ देने के लिए वक्ता की भूमिका को नहीं भुलाया जा सकता। भाषा व्यवहार पर चलती है और इस व्यवहार को शुरू करने के लिए किसी आदिम प्रमाण की आवश्यकता अवश्य होती है। इसलिए भाषा आवश्यक रूप से पौरूषेय होती है। तीसरी बात शब्द के अर्थ परिवर्तन से सम्बन्धित है। शब्दों के अर्थ देश काल और व्यक्ति के अनुसार बदल जाते हैं। न्याय शास्त्र की यही मान्यता है।[18] अर्थ परिवर्तन से यह सिद्ध होता है कि शब्द और अर्थ का सम्बन्ध अनित्य है। इन आलोचनाओं का व्याकरण की दृष्टि से उत्तर दिया जा सकता है और कहा जा सकता है कि ये आलोचनाएं व्यवहार को प्रमुख मानकर की गयी हैं, जबकि व्याकरण दर्शन शब्दार्थ की तात्त्विक प्रमुखता को स्वीकार कर व्यवहार की व्याख्या करता है।

संदर्भ

1. ऋग्वेद 8, 100, ।।
देवी वाचमजनयन्त देवा: तां विश्वरूपा:
पशवो वदन्ति।
2. लघु सिद्धान्त कौमुदी, पृष्ठ 10 - 11
अ इ उ ण।, ऋ क् लृ हल 14।
इति माहेश्वराणि सूत्राणि अणादि संज्ञार्थानि।
3. वाक्य पदीय, हरिवृत्ति 1/44,
4. वा0प0, हरिवृत्ति 'उपादेयो वा समुदाय उपादान:।
5. मालिनी तंत्र वार्तिक, पृ0 40
6. वा0प0, 2/130
7. योग सूत्र भाष्य 3/17

8. पदमंजरी, 7/4/53, (शब्दो ध्वनिः शब्द गुणः, पांतजल म0भाग-2)
9. न्या0 सू0 1.1.7
10. न्या0 सि0मु0 (कारिकावली-शब्द खण्ड)
11. हेलाराज, वाक्य पदीय।
12. महाभाष्य, 1.4.109
13. ऋक संहिता, 1/164/45
14. 'परा' को भर्तृहरि 'ब्रह्म' ही मानते हैं।
15. वा0प0 1.1.143 (प्रतिसंहृतक्रमा समाविष्ट क्रमशक्तिश्च।)
16. वा0प0 1/143
17. वही
18. दार्शनिक त्रैमासिक, 1999 (सं0 रघुनाथ गिरि)।

संदर्भ ग्रन्थ

(1) सत्यकाम वर्मा, व्याकरण की दार्शनिक भूमिका
(2) यू0एस0विष्ट, दि कान्सेप्ट ऑफ लैग्वेज।

डॉ0 हन्सी बिष्ट
दर्शन विभाग
श्यामाप्रसाद मुखर्जी कॉलेज
दिल्ली विश्वविद्यालय,
दिल्ली-26